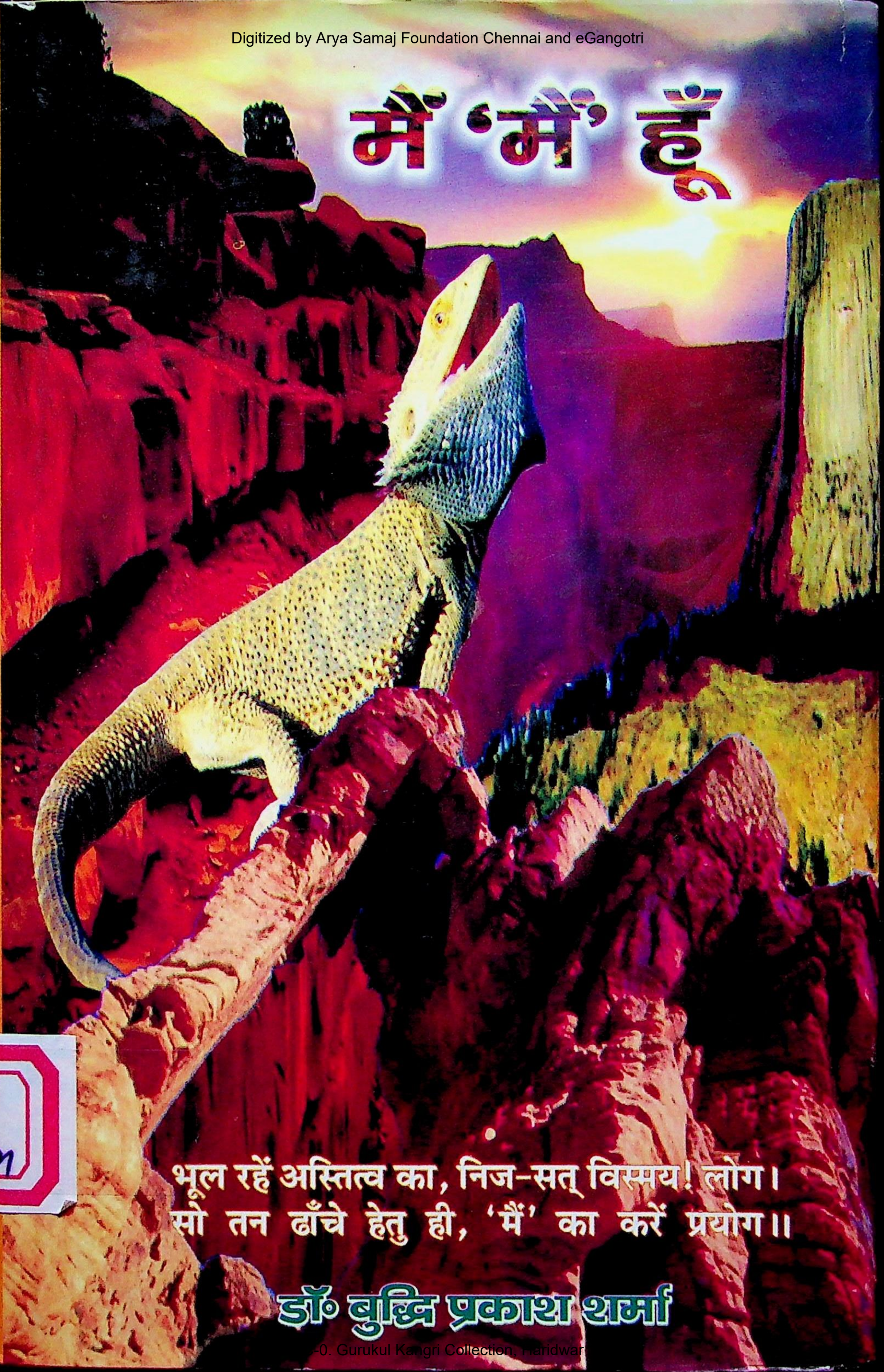
मैं 'मैं' हूँ



भूल रहें अस्तित्व का, निज-सत् विस्मय! लोग।
सो तन ढाँचे हेतु ही, 'मैं' का करें प्रयोग।।

डॉ० बुद्धि प्रकाश शर्मा

मैं 'मैं' हूँ

(दोहा कृति)

डॉ॰ बुद्धि प्रकाश शर्मा

डॉ० राम स्वरूप आर्य, बिजनौर
की स्मृति में सादर भेंट–
हरप्यारी देवी, चन्द्रप्रकाश आर्य
संतोष कुमारी, रवि प्रकाश आर्य

भूल रहें अस्तित्व का, निज-सत् विस्मय! लोग।
सो तन ढाँचे हेतु ही, 'मैं' का करें प्रयोग॥

'मैं 'मैं' हूँ का मर्म —

ईशावास्योपनिषद् में कहा गया है–'योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमास्मि' (मंत्र सं. 16) अर्थात् वह परम पुरुष परात्पर परमेश्वर है, वह मैं हूँ। माण्डूक्योपनिषद् में ऋषि का कथन है–'अयमात्मा ब्रह्म।' (मंत्र सं. 2) अर्थात् यह जो मुझमें व्याप्त है, वह ब्रह्म ही है। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं–'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।' (श्रीमद्भगवद्गीता 18.61) अर्थात् हे अर्जुन! ईश्वर सब भूत-प्राणियों के हृदय में स्थित है। गोस्वामी तुलसीदास संसार के सभी जीवों को सीताराममय जानकर दोनों हाथ जोड़कर प्रणाम करते हैं–

सीय-राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

सूफ़ी कवि मलिक मुहम्मद जायसी के अनुसार न वह मिला है और न अलग है। इस प्रकार वह सब में व्याप्त है। वह दृष्टिवान् ज्ञानियों के निकट है किन्तु जो अन्धे-अज्ञानी हैं उनके लिए वह दूर है–

ना वह मिला न बेहरा, ऐस रहा भरिपूर। दीठिवन्त कहँ नीयरे, अन्ध मूरुखहि दूर॥

कबीरदास जी भी राम (ब्रह्म) को घट-घट में विराजमान मानते हैं; यह बात और है कि अज्ञानवश संसारी जन उस परम प्रभु को पहचान नहीं पाते हैं–

कस्तूरी कुण्डलि बसै, मृग ढूँढे वन माँहि। ऐसे घटि-घटि राम हैं, दुनियाँ देखै नाहिं॥

डॉ॰ बुद्धि प्रकाश शर्मा ने भारतीय दर्शन के इस मर्म को आत्मसात् करके अपनी रचना 'मैं 'मैं' हूँ' में दोहों के माध्यम से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। धन्य हैं वे पुण्यात्मा जो अन्तस् में व्याप्त परब्रह्म का साक्षात्कार करके उसके साथ तादात्म्य स्थापित करते हैं तथा अन्ततः उसमें समाहित हो जाते हैं।

भारतीय दर्शन के अनुसार जीव ईश्वर का अन्श होने के कारण अनश्वर तथा संसार के अन्य पदार्थ नश्वर हैं। सम्पूर्ण चराचर जगत् में परमपिता परमात्मा व्याप्त है। संसार में सभी कुछ उस अनन्त शक्ति से उत्पन्न हुआ है और सब कुछ उसी में विलीन हो जाएगा। 'मैं 'मैं' हूँ' के लेखक ने इसे इन शब्दों में व्यक्त किया है–

ईश्वर तो वह सूत्र है, जो जग अन्तः स्यूत। उससे आवृत हैं सभी, पूर्ण चराचर भूत॥
सब जन्मा है आपसे, आपहि जाय समाय। अलग बात है किस-किसे, कितन समय लग जाय॥

कवि के अनुसार अध्यात्म दृष्टि से यदि तन के पार झाँक कर देखा जाए तो इसके पीछे चेतन तत्त्व के दर्शन हो सकते हैं, जो सबके प्राणों का आधार है–

यदि दृग हों अध्यात्म के, देखें तन के पार। दिखे देह पीछे खड़ा, चेतन प्राणाधार॥

शुभ चिन्तन, शुभ श्रवण तथा शुभ कर्म परम प्रभु की प्राप्ति के सहज सरल मार्ग हैं। अतः कवि कहता है–

चिन्तन में शुभ साध रे!, शुभ सुन, कर शुभ कर्म। ईश प्राप्ति का है यही, सहज सुहाना मर्म॥

जो व्यक्ति मन-वचन-कर्म से सद्गुणों को धारण करते हैं, उनके अन्तस् में आनन्द की लहरें उठती हैं तथा प्रेम की वर्षा होती है। अतः कवि का सन्देश है–

मनसा वाचा कर्मणा, सद्गुण ही चित धार। जनें ऐस तब कामना, बरसें प्रेम फुहार॥

मानव का धर्म-कर्म लोक-कल्याण में निरत रहना है। इसके अभाव में योग-साधना और सन्न्यास व्यर्थ हैं–

लोक पलायन कर किया, कन्दर में आवास। जग हित काम न आय जो, व्यर्थ योग सन्न्यास॥

लगन, परिश्रम और कार्य-क्षमता मानव की बड़ी शक्तियाँ हैं। इनके बल पर वह सभी बाधाओं को दूर करते हुए संसार में आगे ही बढ़ता जाएगा–

लगन परिश्रम हाथ दो, हैं यदि नर के पास। मार्ग रोक सकते नहीं, जग के अन्धड़ त्रास॥

संसार में सभी जन सुख की कामना करते हैं, पर हैं दुखी। वे भौतिकता में लिप्त रहते हुए सुख की खोज में व्यस्त हैं तो भला कैसे सुखी हो सकते हैं। कवि के शब्दों में–

दुखिया सब संसार है, कर-भी सुकर-निबाह। ढूँढ न सो इस भौत में, बिरथा सुख की थाह॥

कवि ने झूठ और सत्य के अन्तर को सरल शब्दों में व्यक्त किया है–

झूठ डरा सहमा रहे, झूठ रहे निस्तेज। प्रखर आत्मबल का धनी, सच ज्यों दिनकर तेज॥

जीवन वस्त्र की थैली के लघु रन्दों से जल की भाँति धीरे-धीरे खिसक रहा है। मानव को इसका भान नहीं हो पाता–

जस जल रिस-दें वस्त्र की, थैली से लघु रन्द। सरके ऐसे अनकहे, जीवन गति से मन्द॥

मानव के जीवन में ऐसे अनेक अवसर आते हैं, जब वह अपने मनोनुकूल परिणाम न होने पर क्षुब्ध हो उठता है। ऐसे अवसरों पर मनुष्य को धैर्य धारण करना चाहिए और जो कुछ घटित हुआ है उसे सहन करना चाहिए। डॉ॰ बुद्धि प्रकाश शर्मा ने इसे इन शब्दों में व्यक्त किया है–

जिसे न बदला जा सके, सहना उसे सधीर। सहनशक्ति के ताप से, मानव बनता वीर॥

मानव के मन में इच्छाओं की तरंगें उठती रहती हैं, और वह जीवन पर्यन्त इनके जाल में उलझा रहता है। मनुष्य को इन पर नियन्त्रण रखना चाहिए। सांसारिक भोगों में लिप्त रहने पर व्यक्ति सन्तुष्ट नहीं हो सकता। व्यक्ति भोगों में जितना अधिक अनुरक्त होगा, भोग की कामना उतनी ही प्रबल होती जाएगी। कवि के अनुसार–

इच्छा उठें हिलोर सी, कोउ न इनका अन्त। आवश्यकता-भर सुनें, सो इनकी धीवन्त॥
भोग भोगने से कभी, भोग न हो सन्तुष्ट। जितना भोगो भोग को, भोग भूख हो पुष्ट॥

मृत्यु को 'भव से मुक्ति विधान' मान कर कवि ने मृत्यु को नींद और जन्म को जागने के समान माना है। अतः मानव को मृत्यु को सहज भाव से ग्रहण करना चाहिए–

जीवन-क्रम में मृत्यु को, सहज अवस्था मान। नींद मृत्यु जगना जनम, भय से मुक्ति विधान॥

पुस्तक में कतिपय दोहे नीतिपरक हैं तथा कुछ दोहों पर आधुनिक विसंगतियों की छाप है। विस्तार-भय से यहाँ इस प्रकार का एक-एक दोहा प्रस्तुत है–

जो रिपु से भी मित्र सा, करता है व्यवहार। मिलता अरि उसका नहीं, ढूँढे भी संसार॥
शनैः शनैः जनतन्त्र में, अनाचार अन्याय। ऊँची कुरसी से चले, जन जन जाय समाय॥

डॉ॰ बुद्धि प्रकाश शर्मा ने छन्दशास्त्र का विधिवत् अध्ययन नहीं किया है तथापि उनकी इस कृति के दोहों में मात्रा, यति तथा गति का पर्याप्त निर्वाह हो सका है। यह उनका प्रथम प्रयास है। आशा है भविष्य में उनकी रचनाएँ सभी प्रकार के स्खलनों से मुक्त होंगी। उनमें आध्यात्मिकता का और अधिक विस्तार होगा।

- डॉ॰ रामस्वरूप आर्य
बी-१४, नई बस्ती, बिजनौर (उ॰प्र॰)

डॉ॰ बुद्धि प्रकाश शर्मा

जन्म	:	२० नवम्बर १९४६, प्रातः ९.३०; ग्रा॰-कतियावली, जनपद-बुलन्दशहर, उ.प्र.
माता-पिता	:	स्व. ब्रह्मा देवी शर्मा, स्व. पूर्ण चन्द्र शर्मा
बहिन	:	श्रीमती माया देवी शर्मा, श्रीमती धनवती शर्मा, श्रीमती सन्तोष कुमारी
अनुज	:	डॉ. राजेन्द्र कुमार शर्मा
शिक्षा	:	एम.एस-सी. (भौतिकी, गणित); एम.एड्.; एम.फिल. (शिक्षाशास्त्र); पी-एच.डी. (शिक्षाशास्त्र)
विधा	:	दोहे, गीत, कविता।
कृतित्व	:	'मैं'मैं'हूँ' के अतिरिक्त विभिन्न संकलनों एवम् पत्र-पत्रिकाओं में समय-समय पर रचनाएँ प्रकाशित।
सम्प्रति	:	रीडर, अध्यक्ष, शिक्षाशास्त्र-विभाग, वर्धमान कॉलेज, बिजनौर (उ.प्र.)।
सम्पर्क	:	३१५-नई बस्ती, बिजनौर (उ.प्र.); पिन : २४६७०१
दूरभाष	:	०१३४२-२६३९३६

भावाञ्जलि—

वस्तुतः मेरा परिचय 'मैं 'मैं' हूँ' ही है। सार्वभौम 'आत्मा' ही 'मैं' है। दैहिक दृष्टि से— बुजुर्गों के कथनानुसार वन्शवृक्ष में पितामह के प्रपितामह स्व॰ तुलसीराम जी संस्कृत भाषा के मर्मज्ञ तथा तान्त्रिक विद्या के सिद्धहस्त ख्यातिलब्ध पुरुष थे, जो तान्त्रिक मन्त्र-सिद्धि से हजारों किलोमीटर दूर पर अपना मन्तव्य पूर्ण कर देते थे तथा जिन्होंने तन्त्र विद्या पर संस्कृत भाषा माध्यम से आर्ष ग्रन्थ की रचना भी की थी। इसी आनुवन्शिकता में अनेक पीढ़ियों से सुप्रसिद्ध आयुर्वेदाचार्य वैद्य भी होते रहे हैं और अब भी हैं।

पितामह स्व॰ पं॰ रामस्वरूप जी अत्युदारमना, मृदुभाषी, मुक्त हस्त से मुट्ठी बाँधकर कमजोरों की अप्रत्यावर्तित आर्थिक सहायता करने वाले, छः पैसे की मजदूरी के समय में 10 रुपये अथवा सौ रुपये का नोट दिन दो दिन की मजदूरी में देकर भुला देने वाले (यह उनका आर्थिक सहयोग करने का स्वभाव एवं ढंग था।), अति सरल स्वभाव, सामान्यजन-प्रिय किसान जमींदार थे। पिता स्व॰ पूर्णचन्द्र शर्मा आजीवन जिनका प्रत्येक शब्द स्नेहपूर्ण शिक्षा था, हिन्दी, संस्कृत निष्णात, आँग्ल भाषा और उर्दू के विस्तृत ज्ञाता तथा कानून के स्नातक थे। अपने मेरठ कालेज के अध्ययनकाल में प्राचार्य, शिक्षक-वृन्द द्वारा घोषित ट्रैपिल महारथी— शिक्षा, स्वास्थ्य, चरित्र। तत्कालीन आगरा विश्वविद्यालय के सर्वोच्च शरीर सौष्ठवी; कुश्ती, कबड्डी के अन्तर-राज्य स्तरीय खिलाड़ी, यू॰टी॰सी॰ से सीधे सेना में लैफ्टिनेंट पद हेतु चयनित, मेरठ कालेज छात्र जीवन में पन्द्रह इंच सीना विस्तारण करने वाले (प्रत्यक्षदर्शी संस्कृत विभाग, वर्धमान कालेज, बिजनौर के अध्यक्ष डा॰ प्रमोद जी ने मुझसे, मेरे महाविद्यालय में पदभार ग्रहण उपरान्त कहा कि मैं उस समय पन्द्रह वर्ष का था, जब मेरठ कालेज के जिम्नेजियम में बॉडी शो प्रतियोगिता में सैकड़ों प्रतियोगियों में मेरे सामने अन्यों से आठ इंच अधिक पन्द्रह इंच सीना फुलाया था तथा बैस्ट बॉडी बिल्डर घोषित हुए थे और यह भी कहा कि उनके जैसे स्वास्थ्य और व्यावहारिक चरित्र वाला मैंने जीवन में कभी कोई व्यक्ति नहीं देखा।), विरोधी का भी शुभ चाहने वाले, शत्रुभाव रखने वाले को भी आधा मिनट की वार्ता में मोम कर देने वाले, सदैव एक कुर्ता, धोती, टोपी ही पहनकर सादगी-पूर्ण जीवन जीने वाले, लौकिक दूरदर्शी एवम् दिव्य-दर्शितापूर्ण, सार्वजनिक जीवन में अनेक वर्षों तक सरपन्च रहकर आपसी सहमति से वादी-प्रतिवादी के वादों का निस्तारण करने वाले, शिक्षण एवं लौकिक जीवन में उत्कृष्ट निष्पादन हेतु 'राष्ट्रपति पुरस्कार' सम्मान प्राप्त करने वाले, एक वर्ष की आयु में ही माँ का ममत्व उठ जाने के उपरान्त पाँच वर्ष की अवस्था से ही भगवान् श्री कृष्ण जी के अनन्य उपासक और उनसे साक्षात् वार्तालाप कर लेने वाले (हृदयाघात उपरान्त होश में आने पर उन्होंने मुझसे कहा था, बेटे चिन्ता मत करना, अभी भगवान् कृष्ण जी से बातचीत हुई है, शरीरान्त का छह वर्ष का समय देकर गये हैं और वही हुआ। मैं इलाहाबाद में अपनी एम॰एस॰सी॰ करने के समय में अपने पिता के सहपाठी रहे तथा मुकदमा के वकील श्री सिंघल जी से मिलने गया। तब उन्होंने मेरे पिता के विषय में कहा, भाई पण्डित जी की मत पूछो, मुकदमा के निर्णय के दिन प्रातः भजन से उठते ही उन्होंने कागज पैन लेकर मुझे आने को आवाज दी और कहा लिखो आज हमारे केस में जजमेंट, जो भगवान् कृष्ण जी अभी बताकर गये हैं, होगा; और बेटे सच मानना, एक-एक शब्द वही जजमेंट था। दैनिक समस्याओं के भगवान् कृष्ण जी द्वारा बताये गये

रास्ते और समाधान प्रायः ही मुझे बताते रहते थे, जो अक्षरशः सत्य होते थे। मुझे एक कुख्यात डकैत ने स्वयम् कहा हम डकैती डालने तुम्हारे घर कई बार गये हैं, किन्तु हर बार दो राइफलधारी सतर्क ड्यूटी देते सदैव घर के बाहर मिले हैं। यह मेरे पिताश्री के तप तथा भगवत् प्रेम की ही फलश्रुति थी। शरीरान्त क्रियाकर्म उपरान्त की पहली प्रातः चार बजे मेरे घर के चबूतरे पर स्थित नीम के पेड़ के ऊपर से मेरे पिता की तेज आवाज लगातार अनेक बार ओइम्-ओइम् कहते हुए वहाँ उपस्थित सभी ने सुनी।

मेरे साठ वर्ष की अवस्था के अनुभव में ऐसा तीक्ष्ण बुद्धि, तुरत बुद्धि, शान्त स्वभाव, सदाचारी, धैर्यवान, संयमी, सहनशील, दूरदर्शी, परमार्थी, उत्तम स्वास्थ्य, दया व करुणापूर्ण, निस्स्वार्थ समाजसेवी, सभी को दैनिक पारिवारिक, सामाजिक, कानूनी कठिनाइयों में सद्परामर्शदाता तथा आश्वस्त करने वाला कि मैं तुम्हारे साथ हर प्रकार से हूँ, चिन्ता मत करना, बिना किसी को रिश्वत दिलाये कोर्ट कचहरी के कार्यों को पूर्ण करानेवाला, अपरिमित आर्थिक सहयोग करने वाला, सभी को सत्सम्मति देने वाला, व्यक्तित्व आज तक नहीं आया। यह मैं इसलिए नहीं कह रहा हूँ कि मैं उनका पुत्र हूँ, अपितु सच में ही मेरे द्वारा प्रस्तुत चित्र उस व्यक्तित्व का अन्शमात्र दृश्य प्रस्तुत करता है। मैं केवल इतना ही कह सकता हूँ कि वह सच्चे अर्थों में मानव थे।

बुद्धिमती, श्रमशीला, मर्यादाओं की भण्डार, असहायों की सहायक, सुशीला, किन्तु आचरण में कठोर नियमनिष्ठ, हठयोगी की सीमा तक सदाचार का पालन करने वाली देवी, स्वाभिमान की प्रतिमूर्ति, सद्गुण उदधि माता स्व॰ ब्रह्मादेवी (अन्तरात्मा द्वारा निर्देशित कर्म का दृढ़ता के साथ आत्मोसर्ग तक निर्वाह करने का मेरे अन्दर का गुण मेरी पूज्य माँ की ही देन है।) वाले वन्शानुक्रम का कुलबीज और ऐसे कुल प्रणीत पर्यावरण-पोषण का अस्तित्व हूँ मैं।

दोहे की व्युत्पत्ति के सन्दर्भ में यद्यपि सोलह छान्दस नियम हैं, तथापि मैं निस्संकोच स्वीकारता हूँ कि उनके विषय में मैं पूर्णतया अनभिज्ञ हूँ, मुझे दोहे के विषय में कोई सैद्धान्तिक बोध नहीं है। मेरी शैक्षणिक पृष्ठभूमि भी साहित्यिक नहीं है तथापि मैं इतना अवश्य जानता हूँ कि इस दो पंक्ति की पद्यात्मक रचना में किसी भी प्रत्यय के वैचारिक परिदृश्य को अर्थपूर्ण ढंग से पूर्णरूपेण बाँधना होता है।

मेरा दोहा लेखन का एक मात्र आधार बाल्यावस्था में पढ़ा गया सन्त कबीर का एक ही दोहा रहा है जिसे मैं सांसारिक झञ्झावातों और समाज में घटित जघन्यताओं से उद्विग्न, खिन्न, परेशान होकर अपनी आन्तरिक पीड़ा को बाह्य ओर उभारने वाली उदास लय में सदा ही गाता रहा हूँ और कभी-कभी उस दोहे को गाने में अपनी सारी आन्तरिक विह्वलता उड़ेलते हुए रोने भी लगा हूँ। तभी उन लौकिक विषमताओं के प्रति कोई न कोई दोहा मेरे अन्दर से प्रस्फुटित हुआ है। सन्त कबीर का वह दोहा है-

बड़ा भया तो क्या भया, जैसे पेड़ खजूर। पन्छी को छाया नहीं, फल लागें अति दूर।।

निस्सन्देह बेझिझक मेरी सांसारिक अनुभूति 'ब्रह्म सत्यम्, जगत् मिथ्या' विश्वास को पुष्ट करने वाली रही है, जिसने मेरे स्वभाव को दोहे के रूप में गुञ्जायमान होने का यह सुकृत्य किया है। प्रथम पूज्य मात-पिता से संस्कार में प्राप्त मानवीय मूल्यों के कारण प्रस्तुत भावाभिव्यक्ति की शब्द रचना स्वान्तः सुखाय हुई है। इससे यह कृति नितान्त मेरी आस्था, श्रद्धा और विश्वास का प्रतीक मात्र है। मुझे अज्ञात शक्ति ने अपनी

ओर कैसे खींच लिया उसका कोई स्पष्ट चित्र मेरे मानस पर भी नहीं है और वह शक्ति है भगवान् श्री सत्य साई जी। इस विषय में मैं इतना अवश्य उल्लेख करना चाहूँगा कि प्रस्तुत रचना में जहाँ एक ओर सामाजिक कलुषताओं के प्रति मेरी घुटन रही, वहीं भगवान् श्री सत्य साई प्रभु की वाणी और अतीन्द्रिय जीवन-शैली ही छलछलायी है, बल्कि मुझे यह कहना अधिक औचित्यपूर्ण लगता है कि समस्त दोहे श्री सत्य साई बाबा द्वारा ही मेरे हाथ से लिखाये गये शब्द संयोजन हैं।

प्रस्तुत कृति की मूल-आत्मा कृति के मुख-पृष्ठ पर उद्धृत दोहा-रूपी शब्दों में निहित है तथा मुख-पृष्ठ के पृष्ठ-भाग पर प्रत्यक्ष-ब्रह्म पूज्य माँ की स्मृति में, क्षेमंकर, तेजस्-दातृ पूज्य पिताश्री की स्मृति में, ब्रह्माण्ड-नायक परब्रह्म श्री सत्य साई को समर्पण हेतु तथा स्वयम् रचयिता की चेतना जागृत करने के सम्बन्ध में क्रमशः दोहा रूपी शब्द प्रस्तुत हैं जो नित्य-स्मृत उन पूज्यों के चरणारविन्द में मेरी सतत् श्रद्धा के निरत विनत प्रणाम हैं–

भूल रहें अस्तित्व का, निज-सत् विस्मय! लोग। सो तन ढाँचे हेतु ही 'मैं' का करें प्रयोग॥
मूर्त प्रेम है, त्याग है, करुण-भाव है एक। माँ है भव्य मनुष्यता, माँ है दिव्य विवेक॥
भीम-शक्ति की प्रेरणा, साहस -दाता मूर्ति। शुभ, उन्नति, की सीख है, पिता, सुरक्षा, पूर्ति॥
देह नहीं, नहिं बुद्धि है, मन नहिं, नहीं दिमाग। तुच्छ अहम् हृदय नहीं, वह खम् तेजस्-आग॥
मैं 'मैं' हूँ कहना उसे, पूछे तुम हो कौन। अननुभूति अनुभूति 'मैं', 'मैं' स्वराट् चित् मौन॥

हिन्दी साहित्य जगत् की देदीप्यमान प्रखर शिखा डा॰ रामस्वरूप आर्य जी पूर्व अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, वर्धमान कालेज, बिजनौर ने अस्वस्थता की स्थिति में भी सरसरी दृष्टि से 'मैं 'मैं' हूँ' का अवलोकन करके परिष्करण किया है तथा आशीर्वाद के दो शब्द भी लेखबद्ध किये हैं। मैं उनका हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ। राष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्तकर्ता शिक्षक-शिरोमणि श्री आर॰के॰ शर्मा जी के प्रेमपूर्ण सहयोग हेतु तथा मेरे दोहों को पुस्तकाकार देने में श्री विनोद कुमार 'कन्हैया' जी की अनन्य शुभकामनाओं के लिए, उनका हार्दिक आभार। साथ ही समय पर पुस्तक के प्रकाशन हेतु मुद्रक एवम् बुक बाइन्डर यश-प्रिन्टरस् तथा समस्त सहयोगियों का आभार एवम् साधुवाद।

मेरे कनिष्ठ पुत्र प्रिय देवान्श पण्डित के, मेरी भावदशा के प्रति सद्-चिन्तन और सद्प्रेरणा का सुफल है प्रस्तुत कृति। अतः आनन्दित हृदय से मैं उसे आशीर्वाद देता हूँ और उसके शुभ जीवन की मंगल कामना करता हूँ।

यद्यपि यह कृति भगवान् श्री सत्य साई प्रभु के ही परोक्ष रूप से शब्द हैं, तथापि मुझ पर हुआ लौकिक प्रभाव भी इसमें प्रतिध्वनित होना स्वाभाविक ही है जो निश्चित ही अगणित त्रुटियों युक्त होगा। अतः प्रबुद्ध पाठकगण मुझे अल्पज्ञ समझते हुए क्षमा करें। लेकिन प्रस्तुत कृति को पढ़ने के उपरान्त अपनी निष्पक्ष समालोचना, विशेषकर त्रुटियाँ और कमियाँ मुझे अवश्य लिख भेजें। इससे मुझमें सुधार का रास्ता खुलेगा।

संशोधित संस्करण : १९ मई, २००९

डॉ. बुद्धिप्रकाश शर्मा

विषय-अनुक्रम

सर्वाधिकार©	: रचयिता
संस्करण	: संशोधित 2009
शब्द-संयोजन	: श्री विनोद कुमार 'कन्हैया', #८१२६३१०४९२
मूल्य	: मात्र रुपये दो सौ
आवरण	: एल०एण्ड टी० कलैन्डर से साभार
मुद्रक	: यश प्रिंटिंग प्रेस, #९०२७१६६५७६
प्रकाशक एवम् वितरक	: डॉ0 बुद्धि प्रकाश शर्मा

(कृति के प्रत्येक दोहे की रचना के लिये स्वयम् रचयिताउत्तरदायी हैं।)

"Mein "Mein" Hun (Doha Kriti)

BY DR. BUDDHI PRAKASH SHARMA
M.SC. (PHY., MATHS.); B.ED; M.ED.; M.PHILL; PH.D.
315, NAI-BASTI, BIJNOR, U.P. INDIA
PIN 246701 Ph.01342-263936

विनय

न की तुम्हें स्वतन्त्रता, हाँ का मम अधिकार।
तब मेरी अनुभूति को, कैसे सको नकार॥

अपने अनुभव से मिले, हाँ ना का अधिकार।
पर-अनुभव की अज्ञता[1], क्योंकर फिर प्रतिकार॥

देता गिरने से बचा, दुर्गति में, जो वर्म[2]।
उस गुण वाले तत्त्व को, कहती मम-मति धर्म॥

दया हेतु से जो हुआ, पावन कोई कर्म।
अहित-रहित हो या करे, पर-हित, है वह धर्म॥

धर्म सृष्टि-हित दृष्टि है, ऐसी जीवन व्याप्त।
जिसको पाल पशुत्व से, होय दिव्यता प्राप्त॥

दिव्य-ज्योति है देह में, बनती सहज-स्वभाव।
यही कहे उठ भौत से, पा अलोक[3] बरताव॥

---

१. अज्ञता-अचेतनता; २. वर्म-कवच; ३. अलोक-आध्यात्मिक जगत्; ४. खम्-आकाशवत् व्यापक होने से ईश्वर का नाम; ५. स्वराट्-सर्वत्र व्याप्त अविनाशी।

देही, ब्रह्म-स्वरूप

तव तन-अणु, सो लाल[१] हूँ, तव, मैं साई राम।
पिता, चरण में आपके, मम लख[२] विनय प्रणाम॥०००१॥

धरम-करम जानूँ नहीं, विधि आचार-विचार।
पन्थ, मिलन हो आप से, दर्शाओ साकार॥०००२॥

आप खोजता फिर रहा, इस उस, उस इस द्वार।
भ्रम संसार मरीचिका, मूरख आप निहार॥०००३॥

नश्वर सब जग भूत[३] हैं, और अनश्वर जीव।
परम तत्त्व के अन्श हैं, यद्यपि अचर सजीव॥०००४॥

जड़ के कण कण में बसा, चेतन तत्त्व, अदृश्य।
विद्यमान भी दे खड़ा, देख गहन चहुँ वृष्य[४]॥०००५॥

ईश्वर तो वह सूत्र है, जो जग अन्तः स्यूत।
उससे आवृत हैं सभी, पूर्ण चराचर भूत॥०००६॥

माधुर मन, तन चेत का, कोमल हृदय पवित्र।
है मनुजत्व स्वभाव में, यही विराट् का चित्र॥०००७॥

जड़ पदार्थ का जो मिला, वाहन, है वह गात।
इसका चेतन वाहिता, प्राण प्राज्ञ[५] मैं ज्ञात॥०००८॥

---

१. लाल-पुत्र; २. लख-लाख; ३. भूत-पञ्च महाभूत, प्राणी; ४. वृष्य-भगवान् शिव, कल्याणकारी भगवान्; . ५.प्राज्ञ-जीवात्मा।

कहना, कोई जानना, चाहे कैसा ईश।
वह तत्[१] लख, सम्पूर्ण है, रूप अरूप सतीश॥ ०००९॥

चाहे लघु या दीर्घ हो, मार्ग, बात ले जान।
मिलना इक दिन ईश में, इक-इक जड़-तन प्रान॥ ००१०॥

गहन विचारण से दिपे, क्या है यह अद्वैत।
निराकार आकार में, किया भेद है द्वैत॥ ००११॥

कण-कण में भगवान् है, है शास्त्रोक्त विचार।
कण-कण ही भगवान् है, है अ-द्वैत का सार॥ ००१२॥

जीवन यात्रा में लखें, रथ है तन-आकार।
रथ प्रस्थित रथवान् है, पर विराट् साकार॥ ००१३॥

कुछ है, जो नहिं दृश्य है, इस जीवन की भोर।
मैं तू सक्रियता वही, निरख परख चहुँ ओर॥ ००१४॥

एक मूल दो आँगुरी, अस ही द्वैताद्वैत।
वही मूल सब रूप है, दृश्यादृश्य समैत[२]॥ ००१५॥

प्रकटा ईश्वर से सभी, ईश्वर जाय समाय।
जीव करम गति में फँसा, पर घर युगों न पाय॥ ००१६॥

चिनगारी भी आग है, अस ही मैं अरु ईश।
लख! अज में मैं लीन है, मैं में गुप्त ततीश[३]॥ ००१७॥

---

१. तत्-ब्रह्म; २. समैत-समेत, सहित; ३. ततीश-वह ईश।

शीशा, बाहर रज, धुआँ, अन्दर परत, प्रकास।
सत् रज तम तैसे ढकें, ब्रह्म ज्योति आभास॥००१८॥

लालटैन की ज्योति से, ज्योति-पुञ्ज भगवान्।
बाहर रज रज, कञ्च सत्, धूम परत तम जान॥००१९॥

सब जन्मा है आपसे, आपहि जाय समाय।
अलग बात है किस-किसे, कितन समय लग जाय॥००२०॥

भीतर से ही फूटता, पुष्पी सौरभ ओज।
विश्व-आत्म अन्तः हुआ, जीवन आत्म सरोज॥००२१॥

शान्त अवस्थित भीतरे, मूल स्रोत आनन्द।
अन्तः-मुख हो, पा सके, उस रहस्य तज-छन्द॥००२२॥

प्रभु-प्रदत्त जीवात्म है, निर्मल तेजस् ज्योत।
आत्म-तत्त्व के ज्ञान से, तऊ दूर नर भोत॥००२३॥

है आत्मिक चैतन्य की, सीम[१] कल्पनातीत।
व्याप्त आत्म, सम्पूर्ण में, सो है सर्व प्रतीत॥००२४॥

आत्मा के सम्बन्ध में, बँधे विविध सब रूप।
समझ[२], अनिष्ट विकार के, तजे, बने वह सूप॥००२५॥

विभु तन, तन की चेतना, से जीवन गतिमान।
सब में भर निज शक्ति को, बना वही कृतिवान्॥००२६॥

---

१. सीम-सीमा; २. समझ-समझकर।

नर उतना-भर जानता, जहँ तक मनस् उड़ान।
देह-बोध में फँस जिए, बोध न क्या भगवान्॥००२७॥

मनुज स्वयम् को जान ले, यही मात्र है ज्ञान।
जानकारियाँ शेष हैं, सब जीने के धान[१]॥००२८॥

उस उद्वेलक शक्ति की, सहज सुगम पहिचान।
दृश्यमान हो जायेगी, कर तो निज प्रज्ञान॥००२९॥

सदाचार से हो गया, निर्मल जिसका आत्म।
सत्य क्षमा से शीत ही, हृदय पाव, परमात्म॥००३०॥

सरजे, सरसित[२] हो बढ़े, स्वयम् गतित, पहिचान।
तेरा मेरा सृष्टि का, सत्य वही रथवान्॥००३१॥

सत्ता निज अस्तित्व की, समझे रहना भ्रान्ति।
चैन मिले उस गोद ही, जोय सृष्टि की कान्ति॥००३२॥

प्रेम आत्म-चैतन्यता, जीएँ पल पल प्रेम।
कर दें निस्सृत प्रेम को, जग आप्लावित[३] हेम[४]॥००३३॥

प्रेम और श्रद्धा दोउ, चेतनता आयाम।
श्रद्धा अर्पण भाव है, प्रेम अपनपन नाम॥००३४॥

जहाँ प्रेम है, शान्ति है, जहाँ शान्ति उहँ धर्म।
धर्म जहाँ सत् है वहीं, व्याप्त एक-सत्, मर्म॥००३५॥

---

१. धान-आधार; २. सरसित-शोभायमान; ३. आप्लावित-भीगा हुआ, डूबा हुआ; ४. हेम-जल, प्रेम।

विवश दलित असमर्थ से, घिन का निठुर निभाव।
सजग! ईश व्यवहार से, नर भी वैसा पाव॥००३६॥

रक्षक बन जब आपके, बसते उर भगवान्।
फिर क्यों बसी अधीरता, अन्तस में कर थान॥००३७॥

कोई पूजा साधना, कोई नहीं पुकार।
विमल हृदय में आप ही, आ बसते त्रिपुरार॥००३८॥

सारी वय पढ़ता रहा, गुना न आखर एक।
आज समझ ले एक ही, प्रकट रूप प्रत्येक॥००३९॥

तेरा मेरा सोचना, क्या साधो सम्बन्ध।
तन शाश्वत आधार या, अन्तर बसी सुगन्ध॥००४०॥

सबका सच परमात्म है, सबका मौलिक तत्त्व।
जन्म-चक्र मिट जायेगा, होते यह बुद्धत्त्व॥००४१॥

हृदय कमल से फेंकना, अवगुण शूल निकाल।
अन्तस् यदि परिशुद्ध हो, मिलें ईश तत्काल॥००४२॥

जो कुछ भी सम्पूर्ण में, दृष्टि दृष्टिगत, एक।
रूप गन्ध रस नाद है, विभु इक, बात इतेक॥००४३॥

सत्त्व मिटा निज, सिन्धु में, मिले बूँद प्रत्येक।
जीव ईश में, ले मिले, तस सुकर्म की टेक॥००४४॥

भव -बन्धन जगती[१] नहीं, नहिं माया का जाल।
वरन् सत्य चित् नन्द से, विभु कृति, भर उत्ताल॥००४५॥

आत्म-ज्ञान के मार्ग में, पड़े पाँव इक बार।
पीछे हटने का कभी, फिर हो नहीं विचार॥००४६॥

परम-अकथ आनन्द दे, आत्म-ज्ञान का पाथ।
इस पर पग धरते हटे, संसृति से मन-साथ॥००४७॥

निज मौलिकता जानने, हेतु मिला नर-रूप।
तभी ज्ञात हो सृष्टि का, क्या है सत् प्रारूप॥००४८॥

मानव जीवन क्यों मिला, कुछ तो छिपा रहस्य।
स्वानुभूति से जान लें, क्या मौलिकता तस्य॥००४९॥

है मनुजत्व स्वभाव ही, ईश विराट् स्वरूप।
मौलिक जग-गुण शक्तियाँ, मानव का सत् रूप॥००५०॥

सब ईश्वर के कर्म हैं, चाकर मानुष देह।
समझ, श्रेष्ठ उत्तम करें, मति, सुभाग दे एह॥००५१॥

चिन्तन में शुभ साध रे!, शुभ सुन, कर शुभकर्म।
ईश प्राप्ति का है यही, सहज सुहाना मर्म॥००५२॥

सेवा कर नर जीव की, माधव सेवा सोय।
पथ-प्रसार तब मोक्ष का, शीघ्र सङ्कुचित होय॥००५३॥

---

१. जगती-संसार।

मुक्ति मोक्ष की चाह में, नहीं भक्ति पर्याप्त।
वरन् जीव जड़ व्योम को, सेवो रे दिन रात॥००५४॥

निराकार भगवान् है, गुरु तनधर भगवान्।
शरण समर्पित दोउ की, हो बन श्रद्धावान्॥००५५॥

अन्तः तत्त्व विवेचना, करना, पन्थ प्रमेय[1]।
शोधित जीवन के लिए, द्वि आध्यात्मिक ध्येय॥००५६॥

ज्ञान मिले जो भी जहाँ, लेना उसको सीख।
जीवन में कुछ भी नहीं, आत्म प्रबोध[2] सरीख॥००५७॥

मिलन-निवेदन ईश से, करने का थल ठाँव।
सर्व निकट उर आपुना, है उसका घर गाँव॥००५८॥

अलग-अलग गुण धर्म को, भू का रखे प्रत्येक।
पर सत् चित् आनन्द हैं, नर के मौलिक टेक॥००५९॥

महा-ठिकाना पङ्क का, साई यह संसार।
जीवन जलज समान दें, करें आप उपकार॥००६०॥

साधन भजन उपासना, सच्ची ईश्वर भक्ति।
मात्र स्वर्ग सुख दे सकें, पर न दे सकें मुक्ति॥००६१॥

यथा शीघ्र ही लौटना, है, सोचा निज द्वार।
कर्म-भोग रोके रहा, पर पग, हो अनिवार[3]॥००६२॥

---

१. प्रमेय-प्रामाणिक यथार्थ ज्ञान पाना; २. प्रबोध-यथार्थ-ज्ञान, तत्त्व ज्ञान; ३. अनिवार-निवारण न कर सकने योग्य।

न्यायालय में ईश के, सदा सौंप निज वाद।
चित्त शान्त होगा मिले, तब ही नन्दन-स्वाद॥००६३॥

कुछ का मत है, कल्पना, ईश्वर निर्-आकार।
निराकार है, मृत्यु से, पर हो सिद्ध उकार[१]॥००६४॥

कोउ करे छल साथ में, सौंप न्याय को, राम।
'ही' शुचि तव हो, पा सके, अभल अभल-परिणाम॥००६५॥

मन घर अवगुण का बने, निरख निरख पर दोष।
सो सद्‌गुण पर देखना, मिटें राग के कोष॥००६६॥

सृष्टि, सृष्टि की चेतना, इकहि अलेपक[२] तेज।
चारु सृष्टि को सो रखें, जो कि न हो निस्तेज॥००६७॥

करे स्वार्थ की साधना, सूझे नहिं अतिरिक्त।
खो अस सभी विशेष दे, आत्मा से सम्पृक्त॥००६८॥

सजग! स्वार्थ के हाथ में, बिक रे नहीं पुमान्।
सेवा कर निष्काम, हो, सुरभित नर उद्यान॥००६९॥

मनुज सृष्टि हो[३] पातकी, संस्कृति हुई विलोप।
चेतन प्रज्ञा हो खड़ी, मेंट पातकी कोप॥००७०॥

आत्मा की पल गोद में, हों जब प्रकट विचार।
बोध दृष्टि तब भीतरी, पावें सत् विस्तार॥००७१॥

---

१. उकार-शिव, भगवान्; २. अलेपक-निर्मल; ३. हो-होकर।

आत्मा को नहिं जानता, ज्ञान-दृष्टि नहिं सत्य।
बहुधा कर्मों में वही, जीता अघ औद्धत्य॥००७२॥

वाह्य कर्षणों के लिये, तृषा लाल भटकाव।
कारण, नर समझा नहीं, स्वात्मा का विभु-भाव॥००७३॥

दूरदृष्टि में ईश है, दैहिक-दृष्टि विलास[१]।
इक दृग, चिन्तन से लखें, इक दृग छल सहवास॥००७४॥

जड़ता के परमाणु में, अतुल शक्ति गतिमान।
मात्र दिपे जड़, अन्यथा, चेतन ही विदमान॥००७५॥

चेतन जड़त् अभिन्न हैं, कर तो आविष्कार।
तब प्रतीत हो सृष्टि है, विभु का ही विस्तार॥००७६॥

जब तक मूर्ति, विचार में, जड़, तब तक जड़ ईश।
पर जब चेतन, भाव में, तब हों प्रकट सतीश॥००७७॥

जिस पल अन्तःभान हो, विभु जग, जग की कोख।
'मै, 'मैं' हूँ' मय दृष्टि, हो, राग द्वेष से मोख॥००७८॥

लख, हट मन-संसार को, अन्तः नीरव शून्य।
जी[२] वह सत् है जो वहाँ, विद्यमान अति न्यून्य॥००७९॥

पाव समझ की आँख, जो, निज को सके निहार।
जग-जीवन में हो सकें, तब अथ सत् व्यवहार॥००८०॥

---

१. विलास-सुखोपभोग; २. जी-जीव।

क्या स्वरूप उद्देश्य है, जड़ चेतन सत् कौन।
चिन्तन! तब अनुभूति में, सत्ता वह, विभु मौन॥००८१॥

आत्मा एकल सृष्टि की, चेतन नित्य अरूप।
जड़ होकर, पर धारती, नश्वर वही स्वरूप॥००८२॥

तन्मयता से ईश का, जिसको नाम सुहाय।
उसके चिन्तन कर्म का, मैलापन हट जाय॥००८३॥

जिनकी महत्त्वाकांक्षा, सीमित हुईं परार्थ।
श्रम साधन मनयोग से, वे ही परम कृतार्थ[१]॥००८४॥

भल करने की भावना, गढ़ती अस चित रूप।
ले जाता उस ओर, जो, दे उत्कर्ष अनूप॥००८५॥

विनय विवेक विरक्तता, वर[२] विद्या विश्वास।
जिसके अन्तस में बसे, उस उर ईश निवास॥००८६॥

गुण वे सब जो व्यक्ति को, करते शोभित व्यक्त।
उनें हटा दें जो बचे, नर वह सत्य अभक्त[३]॥००८७॥

जान सके तब लौं नहीं, अपने को जीवात्म।
आत्म-तत्त्व के ज्ञान से, वञ्चित जब तक आत्म॥००८८॥

समझ ज्योति तन आत्म में, जब जी[४] करे पुकार।
पवित चित्त कर स्वयम् ले, तब विभु-सत् अवतार॥००८९॥

---

१. कृतार्थ-सन्तुष्ट; २. वर-दान; ३. अभक्त-जिसके टुकड़े न हुए हों; ४. जी-जीव।

भक्ति, जीव जड़ प्रेम

आसति[१] के मन-भाव में, बैठा जो चित-चोर।
प्रकटे वह जग-प्रेम में, आकर्षण की ओर॥००९०॥

आकर्षण आसक्ति की, भाव-क्रिया की टेम।
मोह काम मम कामना, लोक अर्थ में प्रेम॥००९१॥

परम सत्य की लालसा, होती उद्यत प्रेम।
जगत् कर्ष आसक्ति तो, स्नेह वासना-हेम॥००९२॥

मात-पिता सन्तान का, प्रेम अपनपन स्नेह।
मोह चाह औ' वासना, प्रेम-ऐन्द्रिक-देह॥००९३॥

जैसे चन्दा अन्शु[२] है, अन्शु[२], भानु पहिचान।
अन्तर प्रस्थित प्रेम ही, तस जग में भगवान्॥००९४॥

उजियारा औ' प्रेम हैं, प्रभु के दिव्य प्रसाद।
प्रेम-प्रकाश अभाव में, हो जग में अवसाद॥००९५॥

पावन छटा बिखेरता, प्रेम पूर्णता पाय।
पर पाकर आत्मा उसे, आलोकित हो जाय॥००९६॥

परमेश्वर का प्रेम ही, है पावन उपहार।
निर्झर दिव्यानन्द का, हो जिससे सञ्चार॥००९७॥

---

१. आसति-आसक्ति; २. अन्शु-किरण।

पुलकित मन हो प्रेम से, करुणामय उर होय।
ईशानन्दालोक का, पाता रस तब सोय॥००९८॥

प्रेम बिना सम्भव नहीं, दैनिक कार्य-कलाप।
जीवन प्रेम अभाव में, नीरस शुष्क विलाप॥००९९॥

पावन परिणति प्रेम की, होती दिव्यानन्द।
क्योंकि प्रेम-आनन्द का, उदधि, सच्चिदानन्द॥०१००॥

ईश, प्रेम उर-भाव में, है अविभक्त अभेद।
प्रेम रूप में ही दिपें, ईश कह रहे वेद॥०१०१॥

प्रभु प्रकाश को प्रेम के, द्वारा बाँटें आप।
घटे वासना का तभी, मर्त्यभूमि में ताप॥०१०२॥

भर दो सात्त्विक प्रेम से, अपने करम विचार।
मन को तब भर दें दया, करुणा भुजा पसार॥०१०३॥

प्रेम अलौकिक है सुधा, हृद से हृद ले ओढ़।
शक्ति-भरा भेषज-परा, खो दे षड्रिपु-कोढ़॥०१०४॥

घृणा हटेगी प्रेम से, औ' करुणा से द्वेष।
क्रोध विनय से हट सके, प्रभु से अहम् अशेष॥०१०५॥

सता सकें नहिं प्रेम को, चिन्त लाल रिस घात।
क्योंकि ईश विस्तृत हुआ, बनकर प्रेम प्रपात[१]॥०१०६॥

---

१. प्रपात-झरना।

ईर्ष्या दुख भय प्रेम को, नहीं सताते काम।
क्योंकि प्रेम अति दिव्य है, लाँघे, रोक विराम॥०१०७॥

हुआ अहम् विगलित, हुआ, जब भी प्रेम विकास।
गलित अहम् होते, लखें! इति हों स्वार्थ-समास॥०१०८॥

प्रेम-दीप सत्-तेल से, उर के माँहि विराज[१]।
कर्म ज्योति से दीप्ति दे, ज्ञान बाति कर साज[२]॥०१०९॥

प्रेम व्याकरण शब्द का, अनुपम गूढ़ प्रभाव।
उर से उर को बाँधता, उसका दिव्य खिंचाव॥०११०॥

दिव्य प्रेम की वाहिनी, दिव्य प्रेम की स्रोत।
सक्रिय जिससे कोशिका, हों, है वह विभु ज्योत॥०१११॥

मनुज हृदय के केन्द्र में, करता प्रेम निवास।
यही विवश करता उसे, कर समाज में वास॥०११२॥

करुणा रस को प्रीति से, जितना सम्भव, पाग।
वैमनस्य घिन भेद की, तब कटु बुझे विषाग॥०११३॥

प्रेम, प्रेम ही बाँटता, करे प्रेम बरसात।
दे पा प्रेम प्रसन्न हों, पाता प्रेम प्रदात॥०११४॥

सह-अनुभूति सहाय[३] का, प्रेम गुह्यतम स्रोत।
प्रेम-बिना सेवा दया, की हो मृत प्रभजोत॥०११५॥

---

१. विराज-शोभित करना; २. साज-सुसज्जित; ३. सहाय-सहायता, सहयोग।

छोड़ो अपने नाम की, कल्पित कारा सीम।
तुम हो प्रेमानन्द की, पावन शक्ति असीम॥०११६॥

सबको देखो ऐक्य में, सबमें देखो ऐक्य[1]।
यही प्रेम की साधना, सर्वग्राह्य सुख-चैत्य[2]॥०११७॥

काम कपट व्यामोह[3] से, प्रेम सदा अनजान।
नन्दनमय कुछ भी नहीं, जग में प्रेम समान॥०११८॥

प्रेम अनूठा तत्त्व है, इति-विहीन सामर्थ।
उदय उरों में हो मिटे, जग से सभी अनर्थ॥०११९॥

एषा यदि दिव्यत्व की, करें प्रेम व्यवहार।
घृणा क्रोध हों द्वेष के, तब नहिं लेश विकार॥०१२०॥

धर्म अहिन्सा शान्ति का, अवितथ[4] का बल-प्राण।
जीवन भीतर प्रेम है, अचल भव्य कल्याण॥०१२१॥

स्वानुभूति, सम्पूर्ण में, प्रेम, पुनीता प्रान।
प्रेम सभी पर वार दे, त्याग, घृणा अभिमान॥०१२२॥

रखता प्रभु से प्रेम जो, जीता वह अद्वैत।
उसको विस्तृत सृष्टि में, अनुभव नहिं हो द्वैत॥०१२३॥

भर लें निज उर प्रेम से, अनुपम प्रेम प्रभाव।
अपनेपन की भव्यता, जीता तब नर-भाव॥०१२४॥

---

१. ऐक्य-एकरूपता; २. चैत्य-घर; ३. व्यामोह-अज्ञान;
४. अवितथ-सच्चाई।

हृदय उसी का स्वर्ग है, जिसमें कारुण प्रेम।
क्योंकि उसी में जाग, दे, सद्-प्रेरण प्रभु-टेम॥०१२५॥

शान्ति व्यवस्था के लिये, सर्वोत्तम गुण प्रेम।
क्योंकि शत्रु को भी जये, हृदय-प्रेम का नेम[१]॥०१२६॥

मनः-क़लुषता भागती, जहाँ प्यार सहकार।
सो मिल सर्जन में जुटें, युग-पौरुष रखवार॥०१२७॥

स्वतः प्रेम-निस्स्वार्थ में, शान्ति हर्ष हैं लीन।
सो नहिं कार्य विचार को, रखना प्रेम-विहीन॥०१२८॥

पोष सके परिशुद्धता, साधे दिव्य विचार।
प्रेममयी 'ही' कर सके, आत्मा को स्वीकार॥०१२९॥

हो आनन्दित सत्य से, तरुवर-प्रेम समूल।
प्रत्युत फल नहिं चाहता, परहित, सहता शूल॥०१३०॥

त्याग! स्वार्थ की वासना, क्षुद्र अहम्ता त्याग।
तब 'ही' में रह पायगा, शेष प्रेम अनुराग॥०१३१॥

साधो राष्ट्र समाज में, यदपि अगिन लिपिकार।
लिखा न कोई प्यार है, जीवन का सुख-सार॥०१३२॥

उकसाता है व्यक्ति को, रह समाज के बीच।
प्रेम कहे जी पर-हिते, बन निस्स्वार्थ दधीच॥०१३३॥

---

१. नेम-नींव, नियम।

पर-विचार पर-स्वार्थ पर, हो उदार, उन्माद!।
सकल कलेश विनष्ट हों, मिले शान्ति आह्लाद॥०१३४॥

प्रेम सरस कर मारना, अहम् मोह के द्वन्द।
मन मन्दिर हो दे सके, तभी शान्ति आनन्द॥०१३५॥

निष्ठा प्रेम विराग ही, शान्ति भवन के खम्भ।
अनुभावों[1] उद्वेग का, शमन करें आरम्भ॥०१३६॥

अपनी अपनी ढपलियाँ, अपने अपने राग।
परहित शोषण में लगे, तथा-कथित अनुराग॥०१३७॥

आडम्बर छल वासना, घूम रहे बन टेम[2]।
सजग अतः उनसे, रखें, जो कथनी में प्रेम॥०१३८॥

मुख मुख पर रट प्रेम की, किन्तु प्रेम है लोप।
जगत् प्रेम कहता जिसे, निरा स्वार्थ वह गोप।।०१३९।।

जब अपनेपन प्रेम के, खुलें आपसी द्वार।
तब सहयोग उदारता, बनते हैं उपहार॥०१४०॥

प्रेम अपनपन नात के, मुख मुख थोथे गीत।
रहस-बोध होवे, जगे, तब मन सच्ची प्रीत॥०१४१॥

उस हित सेवा त्याग को, तत्पर रहे सहर्ष।
प्रेम-पात्र का चाहता, प्रेम सदा उत्कर्ष॥०१४२॥

---

१. अनुभाव-मनोगत भावों की सूचक बाह्य क्रियायें जैसे स्वेद रोमांच आदि होना; २. टेम-प्रकाश, लौ, रोमाञ्च।

सेवा त्याग सहिष्णुता, वचनों की मधु रीति।
बना किसी को भी सकें, अपना अपना-प्रीत॥०१४३॥

सहज उगा निज चित्त से, आस्था में नत भाव।
है यह श्रद्धा वस्तुतः, चित पर बना प्रभाव॥०१४४॥

विषय-भोग अनुरक्ति से, मन का है विलगान।
भक्ति प्रेरणा शक्ति है, दे नित अमित-प्रभान[१]॥०१४५॥

मन, वचनों का, कर्म का, शुद्ध पूर्ण अनुशास[२]।
मृत्यु-बन्ध से, भक्ति है, अनथक मुक्ति प्रयास॥०१४६॥

दैवी सत्ता वास की, अनुमिति[३] अनुभव स्रोत।
भक्ति, अर्थ है इष्ट की, मात्र, प्रीत का पोत॥०१४७॥

भगवत् 'भ' से भक्ति की, प्रकट कोख अभिव्यक्त।
मन बैठा सो ईश को, त्याग विषय, आसक्त!॥०१४८॥

अहम् शमन की मन्त्रणा, दमन ऐन्द्रिक काम।
आत्म-प्रगति निर्देश का, भक्ति समन्वित नाम॥०१४९॥

बूढ़ा होने के लिए, शिशुपन ज्यों अनिवार्य।
ईश आत्म एकत्व को, ज्ञान भक्ति तस धार्य॥०१५०॥

भक्ति समर्पण की दशा, सत्ता का स्वीकार।
बिना भक्ति सम्भव नहीं, विभु से एकाकार॥०१५१॥

---

१. प्रभान-प्रकाश; २. अनुशास-अनुशासन, ३. अनुमिति-अनुमान द्वारा प्राप्त ज्ञान, अनुभूति।

सर्वोत्तम सद्‌गुण मिलें, भक्ति अमूल्य सुपाथ।
साधन हों अपरोक्ष ही, केवल सत्तानाथ॥०१५२॥

मनुज भक्ति में, चाहिये, करता हो सब कार।
बने भक्ति से व्यक्ति का, जीवन साध्य[१] उदार॥०१५३॥

उपजा तर्क-वितर्क से, किसी हेतु सद्‌भाव।
है उसके प्रति वस्तुतः, आस्था, यही झुकाव॥०१५४॥

भक्ति प्रेम सर्वोच्च का, सर्वोत्तम का नाम।
होता ऐसा प्रेम ही, जीवन-प्राण सुकाम[२]॥०१५५॥

आत्म ईश संयोग का, प्रेमहि सम्बल, हर्ष।
प्रेम ज्योति बिन अन्यथा, जीवन है संघर्ष॥०१५६॥

ईर्ष्य घृणा मद को हटा, पुण्य सोच अपनाय॥
मन को भरता प्रेम से, भक्त वही कहलाय॥०१५७॥

नाश भक्ति, भय का करे, दुर्गति नसता ज्ञान।
शील स्वभाव-दरिद्रता, नसे बुद्धि अज्ञान॥०१५८॥

प्रेम दिव्य अभिव्यक्ति में, होकर हुआ सहाय।
नर को दैवी रूप में, इससे दातृ[३] बनाय॥०१५९॥

पशु-मन को वश में करे, प्रेम-सिक्त व्यवहार।
बनता सुख आनन्द का, तब दुख हट संसार॥०१६०॥

---

१. साध्य-सिद्ध होने योग्य; २. सुकाम-अच्छी कामनाओं वाला;
३. दातृ-दाता, ईश्वर।

दिव्य-प्रेम संस्थापना, शोधक मधुर पवित्र।
आत्मा को जो नन्द दे, हटे अहम् मन-चित्र॥०१६१॥

प्रेरक है आनन्द का, हरे व्यथन[१] अपमान।
प्रेम सर्व-शिव हीय है, करे आत्म-उत्थान॥०१६२॥

ऐक्य, प्रेम की भावना, जिसमें दया निवास।
आत्मा पावन हो करे, सद्गुण भक्ति विकास॥०१६३॥

स्वतः प्रबल अपनत्व का, त्वरण; न जिसमें द्रोह।
उर उमंग[२] वह, प्रेम है, प्रकटे जो बन छोह[३]॥०१६४॥

हो अनुकम्पा भक्ति की, पा श्रद्धा सहयोग।
अधिप स्वमंगल का बनें, तब नर-कृत-संयोग॥०१६५॥

स्वयम्-समर्पण भक्ति का, पा प्रभु आशिष्-वाद[४]।
उर में तब झरने लगे, परमानन्द प्रसाद॥०१६६॥

प्रेम धर्म का मूल है, आत्मा का श्रृंगार।
प्रेम चिन्ह है भक्ति का, प्रेम दिव्य आचार॥०१६७॥

दिव्य, प्रकट सब रूप है, भक्ति जने सन्देश।
सृष्टि हेतु सो प्रेम का, रखना उर आवेश[५]॥०१६८॥

करता मानव मात्र ही, तिरस्कार व्यवहार।
सर्वनात सो ईश से, सुखद, करें स्वीकार॥०१६९॥

---

१. व्यथन-पीड़ा, कष्टानुभूति; २. उमंग-उल्लास; ३. छोह-स्नेह, ममता, दया, कृपा; ४. आशिष्-वाद-आशीर्वाद; ५. आवेश-व्याप्ति।

बँधा प्रेम की गाँठ से, ईश सभी के साथ।
परिजन, नाते छोड़ दें, ईश न छोड़ें हाथ॥०१७०॥

स्वार्थ कामना वासना, जग से बाँधे राग।
पर विभु से बाँधे, किया, जग से सत्-अनुराग[१]॥०१७१॥

मात्र सृजन ही, सृष्टि को, करता मूर्त, विचार!।
सो समझें, है सृष्टि का, अवसि कोउ कृतकार॥०१७२॥

कुछ भी जब था ही नहीं, हुई सृष्टि तब सृष्ट।
निश्चित, फिर भी कोउ थी, सृष्टा-शक्ति अदृष्ट॥०१७३॥

सृष्टि वही सृष्टा वही, सृष्टि पूर्व की शक्ति।
धारण उसने ही किए, भिन्न दशा गुण व्यक्ति[२]॥०१७४॥

अन्तस बैठी शक्ति की, सुन, जी, रख उत्साह।
क्योंकि वही परमेश है, नन्दन प्रेम अथाह॥०१७५॥

परा-प्रेम पोषण, जड़ें, आत्मा में विश्वास।
बीज सत्य-आचार, को, जल, स्वर्पण का भास॥०१७६॥

उगे सत्य के बीज से, पुष्पानन्द सुवास।
तत्त्व ज्ञान फलने लगे, तब, जिस दिव्य-मिठास॥०१७७॥

चित से जब सञ्जात[३] हो, सभी हेतु सम प्रेम।
हृद् सन्तोषानन्द हो, बरसे तब विभु क्षेम॥०१७८॥

---

१. अनुराग-प्रेम; २. व्यक्ति-प्रकट रूप; ३. सञ्जात-उत्पन्न।

जिओ प्रेम आनन्द में, जीवन पल दिन मास।
शान्ति मिले जो ले चले, सन्त बुद्धि के पास॥०१७९॥

जब भी रहता प्रेम के, पथिक, पथों से दूर।
प्रगति उसे पाने न दें, जगत् विघ्न बन क्रूर॥०१८०॥

प्रेम-प्रस्फुरण, स्वात्म का, मौन प्रस्फुटित बैन।
कथित-प्रेम, पर स्वार्थ में, सँकुचे मन की दैन॥०१८१॥

मनसा वाचा कर्मणा, सद्गुण ही चित धार।
जनें ऐस तब कामना, बरसें प्रेम फुहार॥०१८२॥

धर्म कथायें भर सुनीं, किये तीर्थ अरु दान।
मिले न पदवी भक्त की, मन यदि कलुष टिकान[१]॥०१८३॥

भूषा रख सम्भ्रान्त की, सद्चर्चा में भाग।
सुचित रखे बिन, मात्र हो, तुष्ट अहंता, जाग!॥०१८४॥

हटा द्वेष घिन, साधना, मात्र प्रेम पर-मान।
करें सर्व-शिव भाव में, चित थिर तब भगवान्॥०१८५॥

पथ पावनता के चलें, रख चित शम अनुसार।
सम्भव सेवा प्रेम से, तब प्रभु एकाकार॥०१८६॥

तन, तन की जीवन्तता, मन-सक्रिय, दें भास।
सब कुछ है उस ईश की, द्युति[२] का परम-प्रकास॥०१८७॥

---

१. टिकान-पड़ाव; २. द्युति-छवि, दीप्ति।

हेतु प्रेम-कर्तव्य का, किन्तु उपेक्षित भाव।
शान्ति सुरक्षा का रहे, अस में सदा अभाव॥०१८८॥

भरना मन को प्रेम से, हटा ईर्ष्य विद्वेष।
भक्ति सार्थ हो त्याग से, तब जब बनें अरेष[१]॥०१८९॥

सत्य धर्म को पालना, जाएँ चाहे प्राण।
गरिमामय व्यक्तित्व का, तब सम्भव निर्माण॥०१९०॥

सृष्टि सृष्टिकृत[२] के लिए, एक-निष्ठ रख प्यार।
यही मनुज कल्याण का, ऋषियों का वच-सार॥०१९१॥

जोड़ सके पर-हीय से, मात्र प्रेम की गाँठ।
भक्ति जगाने हेतु सो, सीख प्रेम का पाठ॥०१९२॥

जिसके ही में भक्ति का, सरस हो उठा स्रोत।
उससे कल्मष दे हटा, जग[३]-सत् ज्ञान उदोत॥०१९३॥

रूप पियूषा भक्ति है, मनुज जनम को साध्य[४]।
जाग उठी जिस हीय में, हुआ वही आराध्य[५]॥०१९४॥

शक्ति उपाय विभूतियाँ, हों जब अफल असार।
की गइ सच्ची भक्ति ही, बनती तब उद्धार[६]॥०१९५॥

जिस उद्वेलक शक्ति से, क्रियाशील अणु कोष।
सुलभ उसे पहिचानना, मात्र प्रेम सम्पोष॥०१९६॥

---

१. अरेष-अहिन्सक; २. सृष्टिकृत-सृष्टि करने वाला; ३. जग-जागकर; ४. साध्य-पूरा किये जाने योग्य; ५. आराध्य-पूजनीय; ६. उद्धार-मुक्ति।

बुरे समय नहिं रञ्ज में, मुदित न सुख के काल।
भक्त रहे आनन्द में, रख उर प्रेम विशाल॥०१९७॥

नाम उचार[1] प्रचार से, मिले न परम-प्रभास।
श्रद्धा भक्ति अटूट से, पर मन हो विभु वास॥०१९८॥

तजें तृषाएँ मोहता, लें सुवृत्तियाँ धार।
दें तब तव-पग कर्म के, स्वतः मोक्ष अधिकार॥०१९९॥

अनुभव परमानन्द हो, चिन्ता से दे त्राण।
मिले भावमय भक्ति से, शान्ति तोष को प्राण॥०२००॥

भक्ति प्रेम श्रद्धा दया, पुष्प भाव-उत्पन्न।
की पूजा इनसे, करे, विभु को सहज प्रसन्न॥०२०१॥

भक्ति और सद्-ज्ञान की, होती एकहि साध[2]।
लग जायें सद्कर्म में, मानव वृत्ति-उपाध॥०२०२॥

मिलती उरस् विशालता, स्वाभिमान को टेक।
विभु-वन्दन, उपहार में, सौंपे बुद्धि विवेक॥०२०३॥

नित्य भक्तिमय भावना, रखती मन को शीत[3]।
विमुख दशा में रक्षणा, दे विभु से की प्रीत॥०२०४॥

ज्ञान मार्ग पर चल रहे, जब चित पूर्ण अघूर्ण[4]।
प्रेम भक्ति की साधना, हो पाती तब पूर्ण॥०२०५॥

---

१. उचार-उच्चारण; २. साध-इच्छा, कामना; ३. शीत-शान्त;
४. अघूर्ण-अभ्रान्त।

अति-बल रखें विचार

जीवन के उत्कर्ष का, शक्ति-पुञ्ज आधार।
अभ्युच्चय[१] साधन रहे, सदा एक सुविचार॥०२०६॥

शुभकर सर्जक संयमी, अरु वश, हुए विचार।
सम्भव, सकल विरोध के, कर देते उपचार॥०२०७॥

परिवर्तन के साथ में, करना सामञ्जस्य।
न तु अतुष्ट, रहना पड़े, दुख-भोगी पर-वश्य॥०२०८॥

महिमा शक्ति विचार की, हो जिसको अज्ञात।
हेय उपेक्षित बन जिए, विवश हुआ बिन बात॥०२०९॥

हों विचार यदि संयमी, बनते जीवन प्राण।
रचें सुगढ़ व्यक्तित्व को, करें चरित निर्माण॥०२१०॥

शत्रु निषेध-विचारणा, जब हो अन्तर व्याप्त।
सृजनशील सम्वेदना, क्षमता होय समाप्त॥०२११॥

उखड़ें नहिं दुख हानि से, करते रहें विचार।
क्योंकि नम्र इससे बनें, उद्धति तजे विकार॥०२१२॥

अन्तर बैठा शत्रु है, सबल निषेध विचार।
जो आकर्षण में फँसा, इसके, न ले उबार॥०२१३॥

---

१. अभ्युच्चय-अभ्युदय, इष्ट लाभ, समृद्धि, उत्तरोत्तर वृद्धि।

क्रम से न हों कुरूप हों, मन में भरे विचार।
सजग! उठाते हैं यही, दुख अशान्ति के ज्वार॥०२१४॥

शान्ति हरण करते, करें, भारी खड़े अनर्थ।
बुरे विचारों को न दें, मन-निवास सो व्यर्थ॥०२१५॥

ईर्ष्य द्वेष घिन वासना, निन्दा लालच काम।
ध्वंसक सोच निषेध के, ऐसे अनगिन नाम॥०२१६॥

करें मनन अति सोचते, देते हैं उपदेश।
डूबें पर हा! जो नहीं, स्वयम् निभाते लेश॥०२१७॥

घृणा क्रोध भय ईर्ष्या, जैसे अगिन विकार।
हट सकते रख भावना, पावन कर्म विचार॥०२१८॥

कुछ भी पाना चाहते, तब तुम, करो विचार।
उससे क्या सम्भावना, जीवन हेतु तुहार॥०२१९॥

आ मन के भटकाव में, जो दे समय निकाल।
मात्र हाथ उसके रहे, पछतावा चिर-काल॥०२२०॥

उलट निषेधी हो, कि या, सृजक सकारी होय।
दोऊ शक्ति विचार की, इक पाये इक खोय॥०२२१॥

जीवन और चरित्र के, हैं विचार आधार।
साधु संग साहित्य से, सो निज साध विचार॥०२२२॥

जोय सुविकसित ही रखें, चिन्तन भाव विचार।
सहज अनुग्रह पाव वे, भटकें किसी न द्वार॥०२२३॥

ऊँची नैतिक सोचना, बने कर्म आधार।
अवलम्बन यह साँच का, हरे सभी भवभार॥०२२४॥

चिन्तन-शुभ शुभ-भावना, रचते श्रेष्ठ विचार।
मन को मिले सकारता, तब उत्कृष्ट निवार॥०२२५॥

जितनी भी परिपक्व है, जितनी है गम्भीर।
जीवन को उतना करे, सोच, विहित बिन पीर॥०२२६॥

जैसे बीज विचार के, वैसा उगे स्वभाव।
सो बो रे मन-खेत में, सद्-विचार अपनाव[१]॥०२२७॥

लगा देह सद्-कर्म में, मन रख शुभ्र विचार।
अन्तः सद्भावी बना, तब हो जन्म सुखार॥०२२८॥

निज मन-बल का जो रचे, दृढ़-अतीव आगार।
उसका लोहा मानता, कर्मों का संसार॥०२२९॥

मानवता की दृष्टि से, जिसका रचा विधान।
वह समाज ही न्याय दे, सबको एक समान॥०२३०॥

प्रजनित उर में शान्ति हो, दृष्टि पवित मन पाव।
शुभ का शुभ प्रतिदान है, सो रख शुभ ही भाव॥०२३१॥

---

१. अपनाव-ऐक्य।

ईर्ष्या दाह स्व-हेतु

असुरों की है सम्पदा, घृणा ईर्ष्य बरताव।
क्षमा प्रेम धारण करे, पर मनुजत्व स्वभाव॥०२३२॥

भाव-पटल पर ईर्ष्या, कुचला दबा विचार।
गहरे तक पीड़ित करे, इसकी टभकन[1] झार॥०२३३॥

मात द्वेष अपराध की, करे, बुद्धि का लोप।
ईर्ष्या दल दल लिजलिजा[2], जिसके अगणित कोप॥०२३४॥

श्वाँसों की दुर्गन्ध सी, ईर्ष्या एक सड़ाँध।
अपकारों की प्रेरणा, दे यह जलन अबाध॥०२३५॥

गहरी पीड़ा से हरे, ईर्ष्या मन सुख चैन।
जलन कुढ़न बढ़तीं, मिटें, हर्ष शान्ति के बैन॥०२३६॥

जल में हिम सी ईर्ष्या, लघुतर होय प्रतीत।
घट बैठी ज्वालामुखी, सुख से जो दे रीत॥०२३७॥

कुटिल वृत्ति में ईर्ष्य के, विष अणु रहते गोप[3]।
लख विकास जो और का, भड़कें बरसें कोप॥०२३८॥

आत्म विमुख करती हमें, पतन पराभव देत।
ईर्ष्या अन्ध सुरंग है, बिन द्वारे के, चेत!॥०२३९॥

---

१. टभकन-टीस; २. लिजलिजा-अशोभनीय, अनुचित;
३. गोप-गोप्य, गुप्त।

बदले जीवन की दिशा, पल पल भाव विचार।
यद्यपि लगती ईर्ष्या, छोटा दोष विकार॥०२४०॥

रखती बहुत भयाव है, ईर्ष्या मन-विज्ञान।
जीवन में करती खड़े, जो अन्धड़ व्यवधान॥०२४१॥

उसके जैसा हूँ नहीं, करना भी दुष्पार[१]।
यह अतृप्तता सोच की, ही दे ईर्ष्य विकार॥०२४२॥

यश वैभव धन सम्पदा, उस सम होते, एष।
नहिं होने पर, ईर्ष्य का, मन विष जने अशेष[२]॥०२४३॥

मैं अस हो पाता नहीं, जस वह हुआ निहाल।
जागृत ईर्ष्या को करे, यही व्यथा तत्काल॥०२४४॥

निन्दा कटु आलोचना, और कुतर्क कुटेव।
दुर्भावों की शृंखला, रखती ईर्ष्या-देव[३]॥०२४५॥

हानि प्रघात प्रताड़ से, है ईर्ष्या का मेल।
नर को कुटिला काम में, देती सदा धकेल॥०२४६॥

पर-पीड़ा की टीस से, ईर्ष्या मोद मनाय।
अच्छे भले मनुष्य को, पशु-उद्दाम बनाय॥०२४७॥

सदा नकारी भाव ही, जनता ईर्ष्या-भाव।
मनो-शक्तियाँ, भोंथरी, करता कुन्द स्वभाव॥०२४८॥

---

१. दुष्पार-जिसे पार करना कठिन, दुष्कर हो; २. अशेष-अपार; ३. देव-मूर्ख।

दे सदैव मन-हीन को, ईर्ष्या सतत् उभार।
आत्म-विमुख करके, करे, बन्द साध्य के द्वार॥०२४९॥

ईर्ष्या है अति घातकी[१], घुन की भूख समान।
स्वानुभूति की सोच का, खा, कर दे अवसान॥०२५०॥

दिव्य-आन्तरिक को करे, ईर्ष्य नितान्त विषाक्त।
जिए न जीने दे कभी, फिर भी न हो परास्त॥०२५१॥

गिरवी रखती बैर के, हाथ हर्ष आनन्द।
ईर्ष्या ऐसी शत्रु है, दे क्षण सुख, अति फन्द[२]॥०२५२॥

ईर्ष्य क्रोध करना नहीं, नहिं छल कर्म-अनच्छ[३]।
पर निज रखना सर्वदा, मुँह उजला कर स्वच्छ॥०२५३॥

ईश्वर दे प्रारब्ध से, जागृत कर विश्वास।
विरति ईर्ष्य से दे सकें, इस आस्था के श्वास॥०२५४॥

पर-विकास से हर्ष हो, ऐसा मन को साध।
ईर्ष्या फटकेगी नहीं, सकल कटें भव बाध[४]॥०२५५॥

बैर-दाह संसार का, हटा, पवित कर हीय।
विभु रक्षक, विश्वास से, कर्म बने महनीय[५]॥०२५६॥

द्वेष नहीं, हो प्रेम से, सहज वियुक्त विकार।
प्रकट रूप से प्रेम में, क्योंकि बसें निरकार॥०२५७॥

---

१. घातकी-घातक; २. फन्द-कष्ट, क्लेश, दुख; ३. अनच्छ-गन्दा; ४. बाध-पीड़ा; ५. महनीय-सम्मान्य।

भय निज चित की देन

है जिसकी अभिव्यक्ति में, चिन्त हिचक कृश-ज्ञान।
रहता उस व्यक्तित्व में, क्षुब्ध क्लान्त मन म्लान॥०२५८।

निष्फल दुष्फल पा सके, ठिठके कर अनुमान।
भय यह दे, कृत पूर्व का, अवसि अजय[१] अवसान॥०२५९॥

समय न चिन्ता में गँवा, बीत चुके को भूल।
भविष बने उत्थान का, सो कर अस अनुकूल॥०२६०॥

विपिन-भ्रमण में देखता, पीछे मुड़ वनराज।
तस नर मन में भी रहे, भय का भूत विराज॥०२६१॥

रक्षित रहे जिजीविषा, इषण, जने भय भाव।
सो भय जीव विकास में, रखे सकार प्रभाव॥०२६२॥

होता है दो रूप में, खटके का विस्तार।
औचक छिपना भीति है, लड़ना सृजनाकार॥०२६३॥

वृत्ति पलायन की बुरी, बुरा उपेक्षा भाव।
बिरथा भय को मान्यता, भय को दे उकसाव॥०२६४॥

करें पलायन या छिपें, है अभिशाप अकूत।
और अधिक ग्रसता रहे, तब नर को भय-भूत॥०२६५॥

---

१. अजय-अपजय, पराजय।

भय के प्रति यदि सोचना, निरी निषेधी होय।
आजीवन उल्लास को, हरे, इसे मन ढोय।।०२६६।।

भय से नहिं भयभीत हो, डटजा कर उत्साह।
उसके लक्ष्य स्वरूप की, तभी मिलेगी थाह।।०२६७।।

जिससे भय है, सर्वदा, उसका लख[१] क्या रूप।
भय हट इतने से बने, जीवन सुखी अनूप।।०२६८।।

घटना घटी अतीत में, तज उसके दुख चिन्त।
हो जायेगा अन्यथा, मन अति रोगी मिन्त।।०२६९।।

प्रस्तुत कर भय को रहा, उसे सोच पहिचान।
भय गुत्थी सुलझे बने, तब जीवन वरदान।।०२७०।।

शङ्का जने, सतर्कता, दे, दे रक्षा आप।
जीवन पथ में सर्वदा, है नहिं भय अभिशाप।।०२७१।।

भय से लड़ने को हुई, ऐक्य[२] अग्नि घर खोज।
संस्कृति का उत्थान है, भय से उगा मनोज।।०२७२।।

प्रेरित भय ने ही किया, सरजन खोज प्रयास।
सो भय शुभ है, सभ्यता, जिससे पाव विकास।।०२७३।।

स्नायु-तन्त्र को भीति ही, करे बली प्रतिबद्ध।
सो हों तन मन शक्तियाँ, लड़ने को सन्नद्ध।।०२७४।।

---

१. लख-समझ; २. ऐक्य-एकता, एका, एकपन।

ज्ञान अस्त्र सञ्चार का, भय ही, मूल प्रदात।
प्रकृति-कोप की भीति से, देवाराधन[१] जात[२]॥०२७५॥

भय जीवन-नाश्वर्य का, उपजाता अध्यात्म।
संस्कृति उन्नति सरजना, भय से अथ परिणाम॥०२७६॥

मन में भय के भाव से, दृष्टि न अविचल होय।
छिपी छिपी काँपी फिरे, इत उत तो नहिं कोय॥०२७७॥

उर में भय-हिन्सा बसी, भटक दृष्टि भी जाय।
पास दूर मुड़ देखती, तिल का ताड़ दिखाय॥०२७८॥

निकलें भीतर से सभी, असन्तोष भय क्षोभ।
समझ-सत्य सो, बाहरी, भाव-व्यक्ति दे शोभ॥०२७९॥

सुलझाने में गुत्थियाँ, नसने में भय गास।
है समर्थ, सो सर्वदा, साध आत्म-विश्वास॥०२८०॥

कर दे यदि मन, भीति के, खण्डित सभी अधार।
तब ही अँकुरित हो फले, उन्नति अगिन प्रकार॥०२८१॥

रहने हेतु सदैव ही, अभय अचिन्त प्रसन्न।
बिन निज चिन्ता, कर्म से, बन पर-हित सम्पन्न॥०२८२॥

पाने हेतु समर्थता, जुट, सब जुटा प्रयास।
तब निरस्त सब हो सकें, भय के चित्त उड़ास[३]॥०२८३॥

---

१. देवाराधन-देव आराधन; २. जात-जनमा हुआ; ३. उड़ास-वासस्थान।

गुरु दें पन्थ-प्रकाश

गुरु ही जीवन मूल है, गुरु ही पन्थ प्रकाश।
जड़ में चेतनता भरे, गुरु वह दिव्य अकाश॥०२८४॥

गुरु गुरुजन से बैर का, रख नहिं कभी निभाव।
रह जाते हैं स्वयम् के, न तु अ-व्यक्त गुण भाव॥०२८५॥

गुरुवर साँचे अर्थ में, देते ऐसी सीख।
मिल जायें गोविन्द भी, सुख परलोक सरीख॥०२८६॥

गुरु गोविन्द उपासना, प्रखर-पन्थ की मात।
हो करुणा सम्वेदना, जिससे उर सम्पात[१]॥०२८७॥

अग्रगमन की योग्यता, देता गुरु सामीप्य।
हृदय कमल सा खिल उठे, जो गुरु करें प्रदीप्य॥०२८८।

पूरी मानव जाति के, हों गुरु, सन्त महान।
इनके ही आचार से, पाता युग वरदान॥०२८९॥

गुरुजन के सम्मान में, नतमस्तक जो होय।
ज्ञान आयु यश बल मिलें, सहज सुमति सब कोय॥०२९०॥

इक झरोख गुरु ज्ञान है, शक्ति पुञ्ज अत्यन्त।
जिसमें होकर दीखते, सत्-चित्-नन्द अनन्त॥०२९१॥

---

१. सम्पात-संगम।

सत्य झूठ का भेद

'जो है', सच कहते उसे, जिसका है अस्तित्व।
जो नहिं है, वह झूठ है, गढ़े पतित व्यक्तित्व॥०२९२॥

सच इक घटना, झूठ है, मन से गढ़ा प्रवाह।
अवसि छाप[1] सच छोड़ता, झूठ मात्र गप डाह॥०२९३॥

ज्ञान-नेत्र ज्ञानेन्द्रियाँ, देखें जिसे प्रत्यक्ष।
सच वह कारण कार्य का, मौलिक रूप विलक्ष[2]॥०२९४॥

सच घट जो घटना रही, है प्राकृतिक साँच।
नहीं जिसे लख[3] झूठ की, नष्ट कर सके आँच॥०२९५॥

वही रहे सच सर्वदा, जैसा घटित सुजान।
इसी हेतु विश्वास का, बनकर रहे निधान[4]॥०२९६।

सच स्वाभाविक सौम्यता[5], सच सजीवता ओज।
सच चिर चित-मुसकान है, सुरभित खिला सरोज॥०२९७॥

सृष्टि व्याप्त, सच चेतना, आत्मासीन प्रसून।
रहे आत्म-उत्थान का, रुधिर, सच बिना ऊन[6]॥०२९८॥

भाव-ग्रन्थि कुण्ठा नहीं, रुकते सच के पास।
वरन् खुले[7] चित-दृष्टि के, सूक्ष्म गहन विश्वास॥०२९९॥

---

१. छाप-चिन्ह; २. विलक्ष-असाधारण; ३. लख-लाख; ४. निधान-आधार; ५. सौम्यता-सुन्दरता, सज्जनता; ६. ऊन-न्यून; ७. खुले-खोलता है।

सच में ऊर्जा सत्य की, होती अपर असीम।
सो बाधाओं विघ्न को, जय ले सच का भीम॥०३००॥

पोषक, वाहक शान्ति का, साँच अहिन्सा-यान।
सच हटते मनुषत्व भी, होता अन्तर्धान॥०३०१॥

झूठ डरा सहमा रहे, झूठ रहे निस्तेज।
प्रखर आत्म-बल का धनी, सच ज्यों दिनकर तेज॥०३०२॥

लगातार उपयोग की, सच सामर्थ्य महान।
हो जाते सच जीभ के, शब्द स्वतः वरदान॥०३०३॥

धन अर्जन में, सत्य का, रख जो सका चरित्र।
जीवन में उससे नहीं, मन अधि कोउ पवित्र॥०३०४॥

झूठ, विचारों का बुना, मायावी इतिहास।
परख, न देखे जा सकें, जिसके पद सिर वास[१]॥०३०५॥

आज कथन कछु और है, कल था अलग बखान।
सुधि में झूठ न एक सी, रखता निज पहिचान॥०३०६॥

प्रस्तुत अगिन प्रकार से, करे, झूठ इक बात।
समय दशा अनुरूप ही, प्रस्तुति उसे सुहात॥०३०७॥

झूठ, पाप छोड़े नहीं, भले छोड़ दे राम।
फिर क्यों दूषित हों नहीं, जीवन के आयाम॥०३०८॥

---

१. वास-विद्यमानता, अवस्थिति।

आकर्षण अभिव्यक्ति में, सच से अधिक अनूठ।
यद्यपि रहता सर्वदा, सिकुड़ा भय में, झूठ॥०३०९॥

करता झूठ सुशोभनी, चतुराई से बात।
दे सो सदा समाज को, धूर्त क्रूर अवघात[१]॥०३१०॥

मनघड़न्त है झूठ की, संरचना प्रारूप।
अतः कभी भी दे सके, दुख के दारुण[२] कूप[३]॥०३११॥

झूठ, झूठ निर्वाह में, उलझ रहे स्वयमेव।
क्योंकि झूठ निज साक्ष्य में, दे फिर गढ़े कुटेव॥०३१२॥

उहापोह है झूठ में, पल पल भय सन्देह।
फिर भी जीवन चूँसता, सच का, ज्यों मरु मेह॥०३१३॥

डोले पागल प्रेत सा, इकला, अन्ध, अनाथ।
असफलता अपमान ही, लगें झूठ के हाथ॥०३१४॥

यदि जानें सच दे सके, अन को जीवन हान।
लेना आश्रय झूठ का, तब है कृत्य महान॥०३१५॥

जीवन-अमृत साँच है, बढ़ कर, सच निर्वाह।
झूठ मरण सम है, नहीं, ले सो इसकी छाँह[४]॥०३१६॥

हो भी सफल, निराश दे, झूठ, असह अविराम।
सो इस उबर कुहास से, लीक[५] सत्य की थाम॥०३१७॥

---

१. अवघात-आघात, प्रहार, घाव, विपत्ति; २. दारुण-भयंकर; ३. कूप-गड्ढे; ४. छाँह-आश्रय; ५. लीक-मर्यादा।

विपदाओं में भी रहे, रक्षक ढाल समान।
नर जीवन का प्राण है, सत्य, शिवम्, भगवान्॥०३१८॥

सत्य-पथी ही पा सकें, शुभ जीवन आधार।
पालन दृढ़ता से करें, सत्य, ईश साकार॥०३१९॥

चिन्ताओं से मुक्ति हो, मिले आत्म-बल शान्ति।
सो मन वाणी कर्म में, रखें सत्य की कान्ति॥०३२०॥

भाषण करें असत्य का, दे पग-पग अपमान।
सो निज जीवन में न दें, कभी झूठ को थान॥०३२१॥

अपने मन में ग्लानि हो, बोल झूठ, ले पक्ष।
निडर करे सत्-बोलना, पर, अनुभव प्रत्यक्ष॥०३२२॥

बोलें करें असत्य ही, छोड़ उच्च गुण सत्य।
दानव होने के लिये, मात्र बहुत यह क्रत्य[१]॥०३२३॥

सच आग्रह के सामने, नत हो मैं की जोत।
शान्ति अहिन्सा के लिये, सच ही, सच है पोत॥०३२४॥

समावेश व्यवहार में, सत्-मन[२] का अनिवार्य।
यही क्योंकि सर्वोच्च है, जीवन को व्यवहार्य॥०३२५॥

जो मन सच की ज्योति से, भासित हो मुद पाय।
उसकी करुण पुकार से, परम द्रवित हो जाय॥०३२६॥

---

१. क्रत्य-कृत्य, कार्य; २. सत्-मन-ईमानदारी।

इकलेपन के सौख्य

सर्व-प्रपञ्चों को तजे, वही मुदित निर्द्वन्द।
अनासक्ति के पन्थ से, सो पा सुख सत् नन्द॥०३२७॥

सर्वोत्तम सृज-साधना, करता सहज प्रदान।
शाप अकेलापन नहीं, वरन् एक वरदान॥०३२८॥

स्व-अध्ययन गुण-साधना, दे सँग आठों याम।
सो रह इकला ही करें, सदा सृजन के काम॥०३२९॥

श्रेष्ठताओं के ज्ञान का, मनन-समय एकन्त।
पर जिस-मन संसार हो, तब भी वह[१] दुखवन्त॥०३३०॥

पूरण हों नहिं भीड़ में, नूतन पावन काम।
अतः शान्त-एकान्त में, कर, दे शुभ परिणाम॥०३३१।

विषम-दशाओं में रखें, करने का उत्साह।
एकाकीपन दे उनें, नवल-सोच पथ-थाह॥०३३२॥

अथिर आत्म-विश्वास दे, मात्र पीड़ ही पीड़।
न तु, नहिं एकलता बढ़े, सन्शय भय भ्रम भीड़॥०३३३॥

एकाकीपन धन्य हैं, तेरे अनुसन्धान।
जो न किसी को पीर दें, अपितु बनें वरदान॥०३३४॥

---

१. तब भी वह-एकान्त के होते हुए भी वह।

विलग करे संसार से, एकलता का वास।
पर जड़-जंगम-ज्योति में, जोड़े नर-विश्वास॥०३३५॥

क्योंकि खुलें एकन्त में, अभिरुचियों के द्वार।
सो पाते उत्कर्ष को, कौशल कुशल विचार॥०३३६॥

अवलोकन कर चित्त का, जो दें दोष, निवार।
हो उन आत्म-विकास का, पथ प्रशस्त बिन वार॥०३३७॥

जान समझने स्वयम् को, होने को अगसार।
इकल-वास अनुभूति का, करे गहन विस्तार॥०३३८॥

निज जीवन-क्रम का करें, प्रति-पग सूक्ष्म विचार।
मुदित-प्रगति की ओर को, तब पग सकें पसार॥०३३९॥

कठिनाई भय चिन्त में, श्रेष्ठ एकला वास।
तब मन-मन्थन को मिलें, उत्तम साध्य समास॥०३४०॥

मनस्-शान्ति एकान्त हैं, सद्चिन्तन के स्रोत।
तब दी, समझ विवेक की, क्योंकि सुने मन, कोत[१]॥०३४१॥

थिति कर्तव्य-विमूढ़ की, हो, कर एकलपान।
चिन्तन क्योंकि सकार हो, तब शुभ जने विधान॥०३४२।

झुक चलने की सीख दे, मद को करे विदीर्ण।
दया विकस एकन्त में, हरे भाव संकीर्ण॥०३४३॥

---

१. कोत-दिशा।

बदलें, श्रम कर आप

करता नित-प्रति गेह का, कूड़ा कीट बुहार।
तस हट भीतर बाहरी, अपने सब अपचार॥०३४४॥

पावनता उपयोग में, दे शीली[१] आभास[२]।
सो चरित्र-सौजन्य का, रखना चित्त विकास॥०३४५॥

चिन्तन में तेजस्विता, प्रचलन में भर शौर्य।
जीवन में शालीनता, उर, सौजन्य अचौर्य॥०३४६॥

दशा बदलने में लगा, नहिं, अपना उद्योग।
वरन् सफल श्रम हो सके, कर उसका उपयोग॥०३४७॥

सृजन-प्रयोजन रथ रुके, बिन-श्रम बिन-विश्वास।
सो तज अलस प्रमाद को, कर निज प्रगति प्रयास॥०३४८॥

हटतीं निज कठिनाइयाँ, कर श्रम स्वयम्-प्रयास।
पर-भरोस पर बैठना, पर दे घातक गास॥०३४९॥

आत्म-बोध जागृत करें, छोड़ें व्यसन विलास।
उलझन थकें निरस्त हों, चित्त तमस् तब नास॥०३५०॥

रिक्त समय सहयोग में, व्यय कर निज श्रम शक्ति।
दुख निवार तब पा सकें, जो अभाव में व्यक्ति॥०३५१॥

---

१. शीली-शीलवान्, सदाचारी; २. आभास-द्युति।

व्यर्थ अनर्थ-प्रमाद से, समय बचायें आप।
जीवन माँगे पूर्ण हों, सहज, तब बिना ताप॥०३५२॥

जैसे अत्याचार से, निपटे बल आकूत[१]।
कूप अभावों के पटें, तस निज श्रम बलबूत॥०३५३॥

है आलस अवसाद ही, जिसे कहें विश्राम।
सो तज बान अकर्म की, श्रम का आश्रय थाम॥०३५४॥

जमा किया भोगा नहीं, रहा वृथा अति व्यस्त।
वन्शों का पुरुषार्थ भी, कर जाता अस अस्त॥०३५५॥

नहिं समझौता[२] सर्वथा[३], करें काम के साथ।
सतत् क्षुब्ध रहना पड़े, उनको रीते हाथ॥०३५६॥

कर थोड़ा ही हो भले, चित्त लगाकर काम।
मिलते सुखद महत्त्व के, इससे ही परिणाम॥०३५७॥

गौरवमय श्रमशीलता, अवनति ओर प्रमाद।
प्रगति, सृजन, श्रम-शक्ति से, मिलें, मिटें अवसाद॥०३५८॥

यदपि सतत् श्रम दे सके, परिणति सफल अनन्य।
आत्म-नियन्त्रण कर सके, पर जीवन को धन्य॥०३५९॥

हों जन-श्रम श्रमदान से, सहज, कठिनतम काम।
सभ्य इसी से, हो सका, जीवन मनुज ललाम॥०३६०॥

---

१. आकूत-उत्साह; २. समझौता-मेल; ३. सर्वथा-पूर्णतया।

व्यर्थ नष्ट होते रहे, श्रम का करें बचाव।
सृजन सुधार विकास को, साधें, जहाँ अभाव॥०३६१॥

बढ़ते स्वेच्छाचारिता, कलह कुटिलता कूट[1]।
बिन नकेल जब घूमता, निज मन-रूपी ऊँट॥०३६२॥

जीवन गौरव के लिंये, श्रम है विभु अनुदान।
सो रख मन उत्साह से, श्रम में सदा रुझान॥०३६३॥

समय-शक्ति श्रम-शक्ति को, बचा, न होवे नष्ट।
अपने भुजबल से तभी, विजित हो सके कष्ट॥०३६४॥

जुटा स्वयम् श्रम बुद्धि से, निज आवश्यक द्रव्य।
सो नहिं करने में लजा, कथित-निम्न कर्तव्य॥०३६५॥

मनुज प्रगति का स्त्रोत है, उन्नतिशील समाज।
रखना श्रम सहयोग से, सो उन्नत जन-काज॥०३६६॥

निज साधन ही सर्वदा, सकते हटा अभाव।
अपने ही पुरुषार्थ के, सो उभरें[2] सद्भाव॥०३६७॥

महा बन सके, कर सके, सुख-अनन्त उपभोग।
मूल लाभ कल्याण का, सतत् घोर उद्योग॥०३६८॥

कार्य समाज समूह के, कर निज-कार्य समान।
तब बढ़ जन सद्भावना, शक्य सर्व उत्थान॥०३६९॥

---

१. कूट-कपट; २. उभरें-उभारें।

हटें जगज[१] कठिनाइयाँ, मात्र इतन[२], ले मोड़।
व्यर्थ न कर, निज शक्ति को, जनहित से दे जोड़॥०३७०॥

उद्बोधन[३]-सामर्थ्य ही, बदले भाव विचार।
सो नैतिक सञ्चेत का, कर अन्तः विस्तार॥०३७१॥

जागृत मन-गति को करें, अनुचित का पा ज्ञान।
दीप्त भविष्यत् पा सके, तब जीवन-उद्यान॥०३७२॥

वही मनुज है, हो महा, रख पर-शिव की टेव।
सहज सुजनता सत्य से, सुधरें, सो स्वयमेव॥०३७३॥

अति सीमित उपयोग के, साधन जिसके पास।
रहे मुदित फिर भी, उसे, जग ज्यों 'परम' निवास॥०३७४॥

नहीं किसी का मित्र है, नहीं शत्रु है कोउ।
बनें, किये व्यवहार से, मित्र शत्रु जग दोउ॥०३७५॥

दुरुपयोग गो[४]-भोग का, कठिनाई का हेतु।
संकट सुलझे, दे सके, पर संयम नर-केतु[५]॥०३७६॥

जीवन पल प्रत्येक का, करते सद्-उपयोग।
भविष उनें उजला मिले, हटते सभी वियोग[६]॥०३७७॥

धार हृदय में वीरता, बना हाथ बलवान्।
पग रख अटल सुसाध के, बने जनम जयवान्॥०३७८॥

---

१. जगज-जग से जन्मी हुई; २. इतन-इतना; ३. उद्बोधन-चेतना, जगना; ४. गो-इन्द्रिय; ५. केतु-श्रेष्ठ; ६. वियोग-अभाव; ७. बने-बनाता है।

पातक है अति-काम

उद्वेलित उद्विग्न हो, मन अस्थिर-मति क्रान्त[१]।
सीम-रहित इच्छा करें, जीवन कडुवा क्लान्त॥०३७९॥

जीने को पर्याप्त हैं, रोटी दो कुछ नीर।
रख अति की इच्छा नहीं, देती तन मन पीर॥०३८०॥

इच्छाओं को अनसुना, करें, न जब तक स्त्रोत[२]।
पर पसार[३] उतना भला, कटे न कल जो रोत॥०३८१॥

इच्छा को होने न दें, तृष्णा रूपी प्रेत।
सरल सुखी जीवन बने, न तु दुखमय दुष्केत[४]॥०३८२॥

इच्छाएँ शुभ श्रेष्ठ हों, जीवन हो समृद्ध।
करती इनकी क्षुद्रता, पर, मन पतित अविद्ध[५]॥०३८३॥

रखें नियन्त्रित चाहना, यदि साधन-प्रतिकूल।
न तु जीवन समरस, हिले, सम्बन्धों की चूल॥०३८४॥

बिन निज क्षमता योग्यता, है पग बढ़ना भूल।
रख सो वश में चाहना, संसाधन अनुकूल॥०३८५॥

इच्छायें वश में रहें, दें हुलसित साफल्य।
पर अतीव इच्छा करें, सदा निराश अबल्य[६]॥०३८६॥

---

१. क्रान्त-आक्रान्त, कष्टग्रस्त; २. स्त्रोत-साधन; ३. पसार-पसरने की क्रिया, बढ़ना; ४. दुष्केत-दुष्ट बुद्धि; ५. अविद्ध-मूर्ख; ६. अबल्य-बलहीन।

रख समाज अनुकूल ही, अपनी चाह समेट।
न तु कर दें व्यक्तित्व को, छलनी मटियामेट॥०३८७॥

असफलता हाथों लगे, यदि इच्छा निस्सीम।
तब मन दिव-सपने जिए, बन कुण्ठित कटु नीम॥०३८८॥

पनपी लिप्सा लालसा, कड़ुवे बनें[१] परेख[२]।
तब मन सिकुड़े की बढ़ें, विष-वल्लरियाँ[३], देख॥०३८९॥

मैं तू ये सब क्यों दुखी, चकरा उठा विवेक।
उत्तर सन्त पुकारता, इच्छा भली न एक॥०३९०॥

इच्छा भोगी-भूख की, बनती जिन, अति-रोग।
दुख-कीचड़ में डूबने, लगते हैं, वे लोग॥०३९१॥

है, तृष्णा सुख पाव की, इच्छा का संसार।
दे जो सदा अमान का, भय विनाश का द्वार॥०३९२॥

इच्छा उठें हिलोर सी, कोउ न इनका अन्त।
आवश्यकता-भर सुनें, सो इनकी धीवन्त॥०३९३॥

मन अनियन्त्रित, अर्थ है, पग पग नव नव चाह।
जोय कष्ट काठिन्य में, सतत् डाल, दें दाह॥०३९४॥

एक पूर्ण होती नहीं, दूजी जाती जाग।
कुछ भी कर, दे प्रेरणा, जने चाह, दुख-भाग॥०३९५॥

---

१. बनें-बनाती हैं; २. परेख-विश्वास; ३. वल्लरी-लता।

पर अनिष्ट हो कामना, पर-धन ठगनी चाह।
अविश्वास परमेश में, महापाप के वाह॥०३९६॥

काम पिपासा आग है, रखना इसे अधीन।
जितना इसको हव्य दें, उतनी भड़के हीन[1]॥०३९७॥

भोग भोगने से कभी, भोग न हो सन्तुष्ट।
जितना भोगो भोग को, भोग भूख हो पुष्ट॥०३९८॥

पा जाओगे योग[2] को, भोगो अति का भोग।
जो नर ऐसा सोचते, उनको मन का रोग॥०३९९॥

उठी चाह में सर्वदा, रहता लोभ, लुभाय।
सो पहिले चिन्तन करें, कितनी वह शुभदाय॥०४००॥

इच्छा नर-सामर्थ्य का, कभी न रखती ध्यान।
संकट में सो झोंकती, कर मनमानी, प्रान॥०४०१॥

कस पर कस आवश्य[3] की, कितनी चाह यथार्थ।
जीवन को कर भी सके, न तु अघपूर्ण असार्थ॥०४०२॥

भड़की ज्वल सी कामना, होंय असीमित राग।
दुख-सागर में डूबने, लगता है तब भाग॥०४०३॥

इन्द्रिय-मन की तृप्ति में, जुटा रहे बन दास।
उसको उसकी वासना, सब कुछ खा, दे नास॥०४०४॥

---

१. हीन-अधम, नीच; २. योग-आत्म-ज्ञान, मोक्ष का उपाय;
३. आवश्य-आवश्यकता।

शुभ मंगलमय कामना, करना रे सत्काम।
गरिमामय व्यक्तित्व के, जो कि खुलें आयाम॥०४०५॥

बनती जब संकल्प है, तज सब अज्ञ उड़ान।
अतुल ऊर्ज हो कामना, तब दे बना महान्॥०४०६॥

पाव न यदि परिवेश से, श्रेष्ठ चाह, सहयोग।
उचित समय तक सञ्चते, उसे धीर-मति लोग॥०४०७॥

शुभ-इच्छा से जोड़ना, निष्ठा दृढ़-संकल्प।
तब सशक्त हो पा रहे, साध्य, समय में अल्प॥०४०८॥

तत्क्षण रचती कर्म का, चाह-ऊर्ज, प्रारूप।
दूरदृष्टि बिन पा रहे, पर परिणति अवरूप[१]॥०४०९॥

इच्छा, मति सामर्थ्य के, होती जब अनुरूप।
परिणति पाती है तभी, सुख समृद्धि स्वरूप॥०४१०॥

क्योंकर बिरथा कर रहा, इच्छाओं की होड़।
लख साधन सम्पन्नता, तब निज गोड़े गोड़॥०४११॥

अर्थ मान आवश्य[२] की, पूरी हो उस चाह।
दशा उपाय, स्वपक्ष में[३], कर जो सके उछाह॥०४१२॥

सदा शुभेच्छा ही रखे, सक्षम शुभ-पथ साथ।
पर, इच्छा शुभ हो सके, पा विवेक का पाथ॥०४१३॥

---

१. अवरूप-जिसका पतन हो गया हो; २. आवश्य-आवश्यकता;
३. स्वपक्ष में-अनुकूल।

पातक फिसलन से भरा, आकर्षण प्रत्येक।
इन्द्रिय-मन को थामते[1], दे सुज्ञान यह, छेक॥०४१४॥

त्याग, अहम् यश-कामना, श्रेय पाव की चाह।
सदाचार कर्तव्य का, शक्य तभी निर्वाह॥०४१५॥

उत्तम प्रगति प्रवीणता, पावे इक-व्रत टेक।
सो प्रगाढ़ रुचि को करें, कार्य-विषय चुन एक॥०४१६॥

इच्छा संयम में रहे, चित में सुगत[2] प्रवाह।
दे रचना, उल्लास का, कर्मों में निर्वाह॥०४१७॥

काम-शक्ति का ज्ञान में, करता जो व्यवहार[3]।
उसमें घर करते नहीं, विषय-तृषा अपचार॥०४१८॥

काम, वासना है नहीं, वरन् अमित बल जान।
सो कर अस उपभोग हो, जो आत्मिक उत्थान॥०४१९॥

अहम्-वासना-तुष्टि में, तृष्णा में उपयोग।
काम-ऊर्ज अज्ञान में, करे अधर्मी भोग॥०४२०॥

इच्छाएँ इति पा सकें, ऐसा साधें ज्ञान।
ईश प्रकाशित मार्ग हैं, सेवा प्रेम प्रदान[4]॥०४२१॥

अपगति सुगति चरित्र का, मन है स्त्रोतागार।
निग्रह मन पर सो रखें, मर्यादाएँ धार॥०४२२॥

---

१. थामते-सँभालना, किसी को गति से निवृत करना;
२. सुगत-सद्गति प्राप्त, सुन्दर चालयुक्त (वाला);
३. व्यवहार-उपयोग; ४. प्रदान-देना, दान।

कर अनुचित का रोध

नहिं सेवा उपकार ही, नहिं अनीति प्रतिरोध।
दुर्मति में जीते सदा, खो अस जीवन-बोध॥०४२३॥

चित को दे दुष्वृत्तियाँ, चित का ही सहयोग।
साथ न दे तो स्वयम् ही, चित हो दोष-विरोग॥०४२४॥

होते नहीं विरोध के, जब जब सुगढ़ प्रयास।
अनौचित्य फल-फूलता, करता खुला विनास॥०४२५॥

जीवन से संघर्ष का, मिट जाये यदि नाम।
मिले जीव अस्तित्व को, तब जड़ता उपराम[१]॥०४२६॥

अनौचित्य की आँध को, जड़ से सके उजाड़।
यदि इक भी औचित्य हो, बनकर खड़ा पहाड़॥०४२७॥

जीवित, प्रबल बलिष्ठ हों, जब जब अत्याचार।
सहें, बचें, जब लौं न हों, सामूहिक प्रतिकार॥०४२८॥

एकित[२] होकर साहसी, सम्मुख होंय विराध।
अवसि उखड़ जड़ हो सकें, औंधे मुँह अपराध॥०४२९॥

जब इस उस की टेक का, मिले न लव विश्वास।
आक्रामक अतिचार का, तब हो पूर्ण-विनास॥०४३०॥

---

१. उपराम-मृत्यु, २. एकित-संगठित।

अनाचार से जूझ में, आयुध न कर प्रयोग।
उसके वरन् विपक्ष के, मात्र खड़े कर लोग॥०४३१॥

कठिन न कुछ कतरा नहीं, रे थितियों से जूझ।
निकले इससे ही सदा, साफल्यों की सूझ॥०४३२॥

कर अनीति की कोख को, दे इकजुटता नास।
सो मिल रहना, हन सके, कोउ न जो बन दास[१]॥०४३३॥

विकट दशाओं से करें, शान्त धीर संघर्ष।
घर्ष तुरत पर-पाप से, पर करना दे हर्ष॥०४३४॥

लड़ना सुखद, अनीति से, साहस, सँजो बटोर।
कथित, टूटती हो भले, सम्बन्धों की डोर॥०४३५॥

अत्याचार अधर्म का, शोषण का प्रतिरोध।
नर घर[२] राष्ट्र समूह का, है सदैव सुख-ओध[३]॥०४३६॥

अनौचित्य द्वारा मिले, अकथ चण्ड[४] सन्त्रास।
पर प्रत्युत्तर युक्त में, सदा-हेतु सुख वास॥०४३७॥

जहाँ मान्यता-मूढ़ हों, वक्ष स्वयम् का तान।
तथ्य-तर्क तब रोष से, देना, मात्र विधान॥०४३८॥

कष्ट क्लेश भुगते वही, शेष लखें जस खेल।
भूल अनय-प्रति है यही, जूझें सो रख मेल॥०४३९॥

---

१. दास-दस्यु, खल; २. घर-परिवार; ३. ओध-धन;
४. चण्ड-प्रचण्ड, तीव्र।

तभी बढ़े फूले फले, छोटा सा विष बीज।
जब तक नहीं उखाड़ते, उस प्रति रहें पसीज[१]॥०४४०॥

सहना अत्याचार का, होता पानी खाद।
जो पापी उत्साह का, और बढ़ाता माद[२]॥०४४१॥

जिनें घिनौनी गैल की, परिचर्या स्वीकार।
उनें कदाचित ही मिलें, शुभदायक प्रतिकार॥०४४२॥

वर्जनीय[३] के पक्ष में, उठे लोकमत जाग।
मन मन से सब पाप के, उड़ सकते तब काग॥०४४३॥

सीमा में औचित्य की, इच्छाओं को साध।
खुलकर रहें विकास के, तब सब द्वार अबाध॥०४४४॥

पक्षकार औचित्य के, संचालन के स्रोत।
दे सकते लड़ पाप से, जग को सच की ज्योत॥०४४५॥

अविरल निष्ठा जूझ की, क्षमता, लगन अटूट।
जय चुनौतियों को सकें, हों भी भीषण कूट[४]॥०४४६॥

नहीं किसी की धूर्तता, पी जायें रह मूक।
खल खलता को पोष दे, यही क्योंकि निज चूक॥०४४७॥

बुरी वृत्ति है टालना, सहना अत्याचार।
क्योंकि दुष्ट को और दे, मूक-निहार, उभार॥०४४८॥

---

१. पसीजना-दयाद्र होना, नम्र बने रहना; २. माद-मद, गर्व;
३. वर्जनीय-अनुचित; ४. कूट-अचल।

दुखद राष्ट्र-वैषम्य[1]

पूजें जहाँ अपूज्य को, पूज्य उपेक्षा पाव।
वहाँ मृत्यु भय दैन्य के, संकट रखें जमाव॥०४४९॥

प्रतिभा भिखमंगी फिरे, मूढ़ उच्च आसीन।
वह भू अवनत हो, रहे, जन जन हर्ष-विहीन॥०४५०॥

धन्य वोट की नीति है, ऐसे बोती काँट।
अपनी पौ-बारह रहें, फूटे जन जन टाँट॥०४५१॥

देकर दाम चरित्र का, चलते सब व्यापार।
बहुधा सब झेलें वहाँ, सदा दुखों की मार॥०४५२॥

आरक्षित को दे भले, आरक्षण, धन-धान।
युगों हटे यह राष्ट्र की, पर पीछे पहिचान॥०४५३॥

मान अर्हता[2] का नहीं, पद-बल पावे ठोट।
मिले नहीं अस राष्ट्र को, विधना की भी ओट॥०४५४॥

जैसी जिसकी योग्यता, उसको वैसा काम।
वही राष्ट्र उन्नति करे, बोये खाये आम॥०४५५॥

सुतों बीच रखता नहीं, जब घर एक विधान।
भिन्न स्वार्थ बनते वहाँ, रक्तपात के धान[3]॥०४५६॥

---

१. वैषम्य-अनौचित्य; २. अर्हता-योग्यता; ३. धान-आधार।

दुखिया छल का भाग्य

देते धोखा सोचना, धोखा खाया कौन।
तेरे खाते लिख दिया, पाप कर्म विधि मौन॥०४५७॥

ऊपर बातें और हैं, अन्दर घात-कुहास।
ढूँढे मिले न बोलती, जिस पर हो विश्वास॥०४५८॥

छद्‍म बोलि में बोलता, डींग कपट छल घात।
परख-बुद्धि से जाँचना, निकटों को अर्थात्॥०४५९॥

सीखें नित चतुराइयाँ, रंग-बदल तकनीक।
सुविधा के अनुसार ही, चुनतीं कपट सटीक॥०४६०॥

पग पग पर चालाकियाँ, ओढ़े फिरें छिपाव।
गहन समझ से काम लें, सड़क सड़क प्रस्ताव॥०४६१॥

सजग! कुटिलताएँ खड़ीं, लिये मुखौटे हाथ।
ढक दो-पग चलते रहीं, जो पहला मुख-माथ॥०४६२॥

घर घर में शालीन हैं, बाहर अत्याचार।
छल के अनगिन रूप हैं, सो जग दुख-आगार॥०४६३॥

नौ की सौ में वस्तु को, बेच गया मन फूल।
यों नर बोये स्वयम् को, रक्त चूस पर[१], शूल॥०४६४॥

---

१. पर-पराया।

स्वारथ मन-संसार का, शासक सबसे नीच।
दीन दुखी को भी हने, जिसके छल की कीच॥०४६५॥

धूर्त चातुरी-कर्म में, दृष्टिकोण में नीच।
धन पदादि भी पा रहे, हेय जग-जनों बीच॥०४६६॥

सत्य, निरादर यातना, भोगे, हो असमर्थ।
कुटिल चाल की क्रूरता, चुप जब करे अनर्थ॥०४६७॥

सन्त नहीं हूँ कर रहा, सन्तों जैसी बात।
सदा नरक परिवास[१] है, जहाँ घात प्रतिघात॥०४६८॥

लगा दिया उपकार में, चोरी छल से प्राप।
पुण्य नहीं, फिर भी मिले, सजग! मात्र फल, पाप॥०४७१॥

षड्यन्त्रों की चाल से, मान न लेना हार।
सो विवेक श्रम धीरता, रखना सदा सँवार॥०४७०॥

ऐसी आदत त्यागना, जीवन बनें[२] अशक्त।
मूल्यपरक चारित्र ही, सो धर करना व्यक्त॥०४७१॥

कपट क्रूरता के करे, जघन वाण सन्धान।
सद्गुण साहस से खड़ा, हो, मत सह अपमान॥०४७२॥

जो स्वात्मा की दृष्टि में, रहे अछल सद्भाव।
कर्म न उसके दें उसे, कभी पतन पछताव॥०४७३॥

---

१. परिवास-ठहरना, टिकना; २. बनें-बनायें।

सदा अहम्-गति क्षुद्र

मूरख भी पहिचानता, मीठा कड़ुवा भेद।
फिर भी नर मन में रखें, बसा अहम् को, खेद!॥०४७४॥

जिसका जितना हो बढ़ा, उन्मादी अभिमान।
जीवन वह उतना रहे, अफल अधम अनजान॥०४७५॥

तजे न बल, जल राख हो, भले, निगोड़ी डोर।
अहम् मृत्यु पर्यन्त भी, सजग! रखे तस रोर[1]॥०४७६॥

बनता मन प्रतिशोध का, जब तक हो अभिमान।
आने भी सत्-बोध में, तब तक, न दे, विभान[2]॥०४७७॥

यश पद बल कुल गोत्र के, मद से रहें विमुक्त।
स्वतः तभी होने लगे, आद्य[3] बोध संयुक्त॥०४७८॥

कितने भले समर्थ हों, अभिमानन है व्यर्थ।
साहस ही पल-वाम में, रहता क्योंकि समर्थ॥०४७९॥

गर्हितता[4] के स्रोत हैं, लोभ मोह हंकार।
अनगढ़ मन पर सो लिखें, करें सर्व-हित, सार[5]॥०४८०॥

साहस धैर्य विवेक का, श्रेष्ठ सदा सहयोग।
तन धन के 'मैं' का रखें, पर घमण्ड हा! लोग॥०४८१॥

---

१. रोर-उपद्रव, दुष्टता; २. विभान-चमक; ३. आद्य-अद्वितीय;
४. गर्हितता-निन्दा; ५. सार-औचित्य।

तृषा अहम्ता वासना, रखें, अन्ध उन्माद।
भरमित कर सो दे रहे, सजग! त्रास अवसाद।।०४८२।।

अनय कपट कर जीत से, होता गद्गद् तुष्ट।
यही अहम् है जान ले, निन्दा से जो रुष्ट।।०४८३।।

रख अपनत्व विनम्रता, कर सेवा अविराम।
सहज अहम् हटने लगे, चित से बन निष्काम।।०४८४।।

महा-पुरुष नर हो सके, होते ही मैं राख।
पर सब विभुमय, भाव को, पाव न, मैं रस चाख।।०४८५।।

अहम् गले, झुक गा उठे, जब चित नय के गीत।
शान्ति तोष मिलते तभी, तभी जगे विभु प्रीत।।०४८६।।

रक्षित रखना चाहते, स्वयम् आत्म-सम्मान।
रहें अहम् के दर्प से, तब सुदूर श्री-मान।।०४८७।।

सजग! एक से हैं नहीं, स्वाभिमान अभिमान।
इक रक्षक सत्-न्याय का, इक अधर्म का धान[१]।।०४८८।।

जय पाना अपचार से, कथन सदा बड़बोल।
पर निन्दा उपहास ही, रहें अहम् के ओल[२]।।०४८९।।

दमन दबाव प्रलोभ में, थिर यदि है संकल्प।
स्वाभिमान औचित्य से, तब नहिं फिसले स्वल्प।।०४९०।।

---

१. धान-आधार; २. ओल-आश्रय, आड़।

स्वाभिमान के हो नहीं, रक्षा का निर्वाह।
साहस, शुचिता का रहे, तब नहिं अक्षुण बाह[१]॥०४९१॥

भले कष्ट कठिनाइयाँ, सहना दुष्ट विरोध।
स्वाभिमान की रक्ष में, पर रहना बन योध[२]॥०४९२॥

बढ़ने से हंकार के, स्वाभिमान हो सात[३]।
हो सुगुणों सारस्य का, तब निश्चय अवपात॥०४९३॥

अन्त: गहता भ्रष्टता, हों कृत वचन अशुद्ध।
सब आयाम विकास के, करे अहम् अवरुद्ध॥०४९४॥

जग-छद्मों से कर रहे[४], आत्मा को भी विद्ध[५]।
बच रह सो हंकार से, मत यह बहुत प्रसिद्ध॥०४९५॥

देह-धर्म में बाँधता, आत्मा को अभिमान।
सारी क्योंकि नृशंस ही, बना रखे निज बान॥०४९६॥

होता कभी समाज में, मान्य नहीं अभिमान।
सो विनम्रता धारना, तज गर्वी प्रस्थान[६]॥०४९७॥

पर-पीड़न उद्दामता, स्वार्थ अहम् के नाम।
उर सम्वेदी सो रखें, करें न गर्हित काम॥०४९८॥

सतत् अहम् की प्रेरणा, हड़प अन्य के यास।
उससे श्रेयस् लाभ ले, बिन श्रम किए सहास॥०४९९॥

---

१. बाह-दृढ़, सशक्त; २. योध-रण कुशल सैनिक; ३. सात-विनष्ट, ध्वस्त; ४. कर रहे-करके रहता है; ५. विद्ध-आबद्ध; ६. प्रस्थान-मार्ग, पद्धति।

प्राप-अनुग्रह[1] की नहीं, चर्चा करे घमण्ड।
पीछे स्वयम् धकेलता, अन्यों को उद्दण्ड॥०५००॥

असफलताओं को छिपा, करें सफल उल्लेख।
हों कृतघ्न बड़ कोटि के, हिन्स्त्र, अहम् के मेख[2]॥०५०१॥

विनयशीलता सत्य का, चित में होय अभाव।
लाती है अहमण्यता, उर में सतत् गिराव॥०५०२॥

रखे अहम् पर-दृष्टि में, घृणित, बनाकर वाम[3]।
गणित शत्रुता का बढ़े, और बढ़े अवनाम[4]॥०५०३॥

घर छोड़ा वैराग की, लीनी चादर ओढ़।
त्याग किया मैंने, हटे, पर नहिं यह मन-कोढ़॥०५०४॥

किसी बाध्यता में किया, मन मसोसकर दान।
अहम् तुष्टि का मात्र है, तब यह किया विधान॥०५०५॥

रहा आलसी या हुए, कर्म अहम् के ख्यात।
तब कपटी-बैराग को, अपनाता है गात॥०५०६॥

अहम्कार पद नाम[5] का, करे प्रयोग निहीन।
क्रूर अनय से मान भी, ले अशक्त का छीन॥०५०७॥

सेवा का जी[6]-मात्र को, देने लग उपहार।
शिथिल पड़े अहमण्यता, स्वयम् बढ़े तब प्यार॥०५०८॥

---

१. अनुग्रह-अनुकम्पा, कृपा; २. मेख-मेढ़ा; ३. वाम-नीच, बुरा, निर्दय; ४. अवनाम-कुख्याति; ५. नाम-यश; ६. जी-जीव।

जगती लोक-उपासना, गरिमा-आत्म, विवेक।
सो अपना, जो हो सकें, शून्य अहम्मय रेक[१]॥०५०९॥

कर्म-काण्ड अभ्यर्थ्य[२] से, ऋद्धि-सिद्धि जो होय।
विकसे लोक-उपासना, सहज सरसता सोय॥०५१०॥

जब उदार हों भावना, विकसे सेवा भाव।
अहम्, श्रेष्ठ करने लगे, त्याग सभी भटकाव॥०५११॥

ऊँच नीच की भावना, ईर्ष्या द्वेष बिसार।
मात्र लोक-कल्याण का, सेवा, करे विचार॥०५१२॥

सेवा प्राणी मात्र को, करें समर्पित आप।
भेद-भाव मिट जी सके, तब चित रह चुपचाप॥०५१३॥

वसुधा एक कुटुम्ब है, मानव मात्र समान।
हटा सभी संकीर्णता, सेवा दे यह भान॥०५१४॥

भाव सदा, सेवा रखे, सब हों सुखी विरोग।
अहम् नसे तब, सो बनें[३], अन से स्नेह सुयोग॥०५१५॥

सेवा, विनय विनम्रता, निजता का आगार।
द्रवित-हृदय सो दर्प का, कर दे सेवी प्यार॥०५१६॥

तन-कर्ता मैं-रूप के, विश्वासों का अन्त।
बोध तुरत दे, रचयिता, रचना, गति, भगवन्त॥०५१७॥

---

१. रेक-सन्देह; २. अभ्यर्थ्य-प्रार्थना, विनती; ३. बनें-बनते हैं।

छले स्वयम् को ढोंग

सुने न सुनना चाहता, हितकर वचन यथार्थ।
निपट बधिर है, जी रहे, भू पर अस पापार्थ॥०५१८॥

बहुधा निज पाखण्ड से, भ्रमित करें, दे ज्ञान।
होती पर गुण कर्म से, सजग! मनुज पहिचान॥०५१९॥

स्वारथ मद ममकार से, पनपे भाव दिखाव।
करता सफल अनीति से, तब मन निज प्रस्ताव॥०५२०॥

यदपि बनाव दिखाव से, मिले अहम् को तुष्टि।
किन्तु दिखावे खोखले, पोल खुले हो पुष्टि॥०५२१॥

जो हम 'नहिं हैं' जानते, 'हैं' का करें दिखाव।
यह 'मिथ्या हैं' ही जने, इक दिन चिन्त तनाव॥०५२२॥

दाता मनोविकार का, होता है पाखण्ड।
अतः इसे धारें नहीं, अपना बना विमण्ड॥०५२३॥

विस्मय! जो है ही नहीं, बने प्रतिष्ठा बात।
तेरी जय में ढोंग रे, पालें सब छल घात॥०५२४॥

आडम्बर से दूर ही, रहना उत्तम काम।
अर्थहीन दुष्फल रहें, इसके सब परिणाम॥०५२५॥

---

१. विमण्ड-अहंकार, आभूषण।

सच बनकर जब झूठ का, चिपके चिन्ह बलात्।
तभी सफल मन्तव्य हो, जग में यह शठ[१] घात॥०५२६॥

'नहिं हैं', होने का करें, नाटक अगिन दिखाव।
कुछ पा सकें, न पा सकें, पर जग का सद्भाव॥०५२७॥

झूठा यश पा झूठ के, खुलने का भय होय।
तब सौ झूठ बचाव में, रच मन, शम दे खोय॥०५२८॥

झूठ प्रतिष्ठित हो गया, मिला मान सम्मान।
चित पर, सजग! कचोटता, तिल-तिल घुटता प्रान॥०५२९॥

पा ले जो यश मान को, छल पाखण्ड बटोर।
जिए स्वात्म के सामने, वह सदैव बन चोर॥०५३०॥

बड़पन ओढ़े ढोंग का, बखने अन को हीन।
अस गतिविधि से प्राप हो, मात्र चित्त अकुलीन॥०५३१॥

पा अनुकम्पा ढोंग की, हुआ प्रतिष्ठित झूठ।
पर हा! इसकी रक्ष में, गँवा आयु दें ठूँठ[२]॥०५३२॥

सबके सम्मुख ढोंगते, जैसे भद्र कुलीन।
सजग! चोट दें ओट से, कर अस, घात विहीन[३]॥०५३३॥

कपट, कीर्ति पा क्या गया, लगे[४] असीमित प्यास।
तब नर इस दुर्भाग में, जुटे हाय! प्रति-श्वास॥०५३४॥

---

१. शठ-धूर्त, छली; २. ठूँठ-मूर्ख; ३. विहीन-नीच; ४. लगे-लगाता है, उत्पन्न करता है।

नहिं कर, व्यक्त-महानता, झूठों, यह मैं[1]-तोष।
करने से ही हो सके, श्रेष्ठ, हट सकें दोष।।०५३५।।

चमक दिखावे की करे, नहीं कठिनता दूर।
आह! पुरुष फिर भी रहे, उसके भ्रम में चूर[2]।।०५३६।।

पूरी कर सकता नहीं, दैनिक जीवन माँग।
फिर भी जग, पाखण्ड में, रहे फाँसता टाँग।।०५३७।।

है पाखण्ड दिखावटी, अन्तर खोखल राग।
झूठा-सच है, हानि दे, जानें, फिर भी लाग।।०५३८।।

है यह वृत्ति बनाव की, पूरी निष्फल पोल।
सजग! न सो निज व्यय करें, समय शक्ति अनमोल।।०५३९।।

ढोंग किसी का है नहीं, सहज दिखावा मात्र।
पर-हित हनने की छिपीं, इसमें चालें, भ्रात्र।।०५४०।।

विश्व-विदित पाखण्ड के, स्वार्थ हनन पर-घात।
रही आदि से भूमिका, इसकी पर विख्यात।।०५४१।।

यदपि 'नहीं' को झूठ दे, 'सच है' का आकार।
तेज करे पर, झूठ की, रोधी पर बौछार।।०५४२।।

सजे देह गो, ढोंग से, मन खल से कृष्णाभ[3]।
ऐस अन्ततः पा सके, नहिं जग पर-जग लाभ।।०५४३।।

---

१. मैं-अहम्; २. चूर-निमग्न, डूबा हुआ; ३. कृष्णाभ-काली आभा वाला।

ज्ञानी है रख जो सके, एक, ज्ञान व्यवहार।
पर बातों में ज्ञान की, ढोंगी रखे बघार[1]॥०५४४॥

पीड़ा दे, छल में रहे, रचे झूठ पाखण्ड।
मिले विषय-आसक्त में, धूर्त पाप-धी चण्ड[2]॥०५४५॥

निज, घर को ही तोड़ता, कंपिदल विपिन उजाड़।
तस समाज, निज हेतु है, ढोंग, एक सा भाड़॥०५४६॥

मुख अनेक पाखण्ड के, फिरते धोखा देत।
किन्तु सजग! अन को छलें, अपने सत्त्व समेत॥०५४७॥

मिली सफलता में नहीं, करना कभी घमण्ड।
करे ध्वंस न तु प्रेम के, नाते, यह पाखण्ड॥०५४८॥

आदत या पाखण्ड की, मुखड़े रचे अनेक।
अनय-मुखी हों वृत्तियाँ, पा तब इसकी टेक॥०५४९॥

न कर लोक-निन्दा मिले, जिससे हो पछताव।
वन-रूपी संसार से, सो रख नित्य बचाव॥०५५०॥

बिन उधेड़-बुन[3] के रहे, मन, सो बोलें साँच।
रखे व्यथित न तु क्या, किसे, कब, कैसे की आँच॥०५५१॥

देता है जो स्वयम् को, जीवन-हित उपदेश।
वही सुनिश्चित पा सके, उन्नति, उन्नत वेश[4]॥०५५२॥

---

१. बघार-पण्डित दर्शाने हेतु बढ़ा चढ़ा कर बोलना; २. चण्ड-तीक्ष्ण; ३. उधेड़-बुन-उलझन; ४. वेश-प्रवेश।

हटा मनस् मालिन्य

कर्म-काण्ड भोगा, नहीं, धोया मन का मैल।
समय अभी भी है चलें, मानवता की गैल॥०५५३॥

उद्धत रख ओछा रखा, स्वार्थपूर्ण निज व्यक्ति।
उसको कभी न लाभ दे, उसकी पूजा भक्ति॥०५५४॥

छोड़ गये सँग बीच में, सत्मनता नय धर्म।
करना उससे मित्रता, देता मान न शर्म॥०५५५॥

नहिं अवकृष्ट[1] स्वभाव से, रखना कोई आस।
द्वेष सख्य दोऊ बुरे, रखें न इनका पास॥०५५६॥

पिता अहम् माँ ईर्ष्य है, बालक भ्रष्टाचार।
आत्म-ज्ञान की ज्योति ही, तब मन सके बुहार॥०५५७॥

जग-हित बैरी मात्र है, काम क्रोध की आग।
जो सुनीति धी शील को, पल में करे विराग[2]॥०५५८॥

मन्दिर की सीढ़ी चढ़े, पुनि पुनि शीश झुकाय।
चाहे लूट खसोटना, पर नहिं तजना हाय!॥०५५९॥

निज अक्षमता दोष को, छिपा, बने निर्दोष।
संकट अन्तः-क्लेश का, स्वयम् करे अस पोष॥०५६०॥

---

१. अवकृष्ट-बहिष्कृत, तुच्छ, नीच; २. विराग-उदासीन।

ईर्ष्य असत् धिन वासना, हिन्सा स्वार्थ अटूट।
व्यर्थ पूज्य-रट-चीखना, जब मन में थित लूट।।०५६१।।

कामी चोर गपोड़ को, हटे[1] सजग की चोट।
पड़ते ही उर नीक की, दृष्टि, उड़ें तस खोट।।०५६२।।

मुख होते हैं घात के, आकर्षक अति-शिष्ट।
सजग! मनुजता का करें, ये क्षय अपर अनिष्ट।।०५६३।।

पाने हेतु कृतज्ञता, मान प्रशन्सा-गान।
सेवा नहिं हंकार का, है यह छली विधान।।०५६४।।

कर प्रयोग छल धूर्तता, पाल लिये दस बीस।
धर्म-पथी को दे सकें, कोउ न अस, पर टीस।।०५६५।।

कल्मष भावों में भरे, सबको बाहर हाँक।
स्वतः तभी उद्विग्नता, मिटें, पवित हो झाँक[2]।।०५६६।।

पथ सत्मनता[3] का सदा, बहुत निडर सामान्य।
सो उससे फल भी मिलें, जिनमें सुख प्राधान्य।।०५६७।।

रहकर निज मर्याद में, कर्म पाव शिव नींव।
सो निर्मल रख, पा सके, जो चित निज सत्-सींव[4]।।०५६८।।

निज दोषों से मूँदना, आँखें बन अनभिज्ञ।
यही वृत्ति घाती, हटा, सो बन घोर प्रतिज्ञ।।०५६९।।

---

१. हटे-हटाती है; २. झाँक-दृष्टि, दृष्टिकोण; ३. सत्मनता-ईमानदारी; ४. सींव-सीमा।

निरखें अन्तः सत्य

दुखिया सब संसार है, कर-भी सुकर-निबाह।
ढूँढ न सो इस भौत में, बिरथा सुख की थाह॥०५७०॥

हटते हुए प्रतीत हों, आस्था विभु विश्वास।
तब चिन्तन निज-सत्त्व का, रोक सके यह ह्रास॥०५७१॥

हो, हो[1] विलग प्रपञ्च से, मनोभूमि अनुकूल।
तब निज-सत् के ज्ञान का, स्वतः खिले चित[2] फूल॥०५७२॥

माया या संसार की, अद्‌भुत बड़ी असीम।
इसके जी अनुसार भी, जीवन बनता नीम॥०५७३॥

जब क्यों, कैसे, कौन, क्या, उठें, बनें व्यवधान।
विभु का सम्यक् बोध ही, दे तब युक्त निदान॥०५७४॥

डोला इक रथ सन्धि का, इक रथ धरा विछोह।
मात्र कर्म, इस मर्म के, दें विधान की टोह॥०५७५॥

उड़ने पर, चित्[3] देह की, मिले मूल में मूल।
सजग! समय लम्बे रहें, पर करनी के शूल॥०५७६॥

जाने पर शव-साथ में, चित्त और ही होय।
उसी चित्त के भाव से, जिए, पाव सुख सोय॥०५७७॥

---

१. हो-होकर; २. चित-अन्तःकरण; ३. चित्-चेतना।

जग ईश्वर संकल्प से, है, होता गतिमान।
सो सुख दुख समभाव से, करते कर्म सुजान॥०५७८॥

लख चौरासी यौनियाँ, कर्मों के ही फेर[१]।
शयन पूर्व दिन में किये, अतः कर्म निज हेर॥०५७९॥

लिखते हैं सब कर्म ही, पग पग का परिणाम।
समझ! आज का शोक है, किया भूत में वाम[२]॥०५८०॥

गौरव उन्नति पा रहें, दशा-दलित अति-क्षाम[३]।
अतः असंयम से बचें, करे पतित उद्दाम॥०५८१॥

लगें विचरने चित्त में, जब जग जग-व्यापार।
सजग! साधुता पा सके, नहिं तब नर व्यवहार॥०५८२॥

चेष्टा, रखने की करें, बुद्धि चरित्र पवित्र।
जीवन, समय सुहावना, पाव स्वतः तब मित्र॥०५८३।

कभी न बेधे जा सकें, कर्म-बन्ध के भोग।
सो जीवन जी, पा सकें, जो सुख तुझसे लोग॥०५८४॥

डूबा पशुवत् भोग में, रहा आत्म का हन्त।
मानव तन ही क्यों मिला, सोच, सुधर तब कन्त!॥०५८५॥

प्रभु अनुकम्पा से मिले, प्रेम शक्ति उपहार।
सो जग को सुख शान्ति दे, रख सम भाव उदार॥०५८६॥

---

१. फेर-घुमाव; २. वाम-निर्दय, बुरा, विरुद्ध; ३. क्षाम-अशक्त।

जिस जीवन में श्वास है, पर नहिं विभु-विश्वास।
उसके कर्मों में रहे, उग्र अनीति विलास।।०५८७।।

लख ब्रह्माण्ड सुभव्यता, सुन्दरता चमकार।
तब इसके पितु रूप को, लख विचार में, धार।।०५८८।।

उडु नभ गति द्युति चेतना, गुण गुण-धर्म अपार।
इससे सृष्टा रूप को, दे अकार, कर प्यार।।०५८९।।

रूप सहित गुण धर्म हैं, इक चित् का विस्तार।
सो समझें यह पूर्ण ही, ईश्वर है साकार।।०५९०।।

मुझ में तुझ में देह है, चेतन भी विदमान।
सम ही तन चित् तत्त्व, सो, मैं तू सब भगवान्।।०५९१।।

रोम रोम में चेतना, बनकर बैठे कोय[1]।
तब तन, रत निर्वाह में, करे, वही प्रभु होय।।०५९२।।

करें समर्पित स्वयम् का, जब मन 'ही' विभु हाथ।
तब अन्तर प्रभुता दिपे, हो अनुभूति सनाथ।।०५९३।।

अग, बिल पर लठ[2] वार से, मरे न पावे ताप।
सजग! न तन तप पीड़ से, तस हों अनुभव आप।।०५९४।।

है लुहार की धौंकनी, मानव धर्म-विहीन।
जोय श्वाँस लेते हुए, असजग मृत-सा दीन[3]।।०५९५।।

---

१. कोय-कोई; २. लठ-लाठी; ३. दीन-दुर्दशाग्रस्त।

नर तन दुर्लभ देव को, रखें इसे सद्लीन।
करे भ्रष्ट जो, है निरा, दुर्भागी मतिहीन।।०५९६।।

सर्व-रूप साकार है, है भी मूर्त-विहीन।
सो समझें, विभु सृष्टि है, चेतन सर्व-विलीन।।०५९७।।

मन माया के पेड़ पर, आशा तृष्णा काग।
फैला रहे मलीनता, मनोभूमि पर जाग!।।०५९८।।

लख सदैव ही आ टिकें, स्वार्थी अघी विहंग।
सो कर विभु में, ध्यान से, पा शुचि सके अनंग[१]।।०५९९।।

विभु सुमिरन स्वर ऊँच में, हटे चिन्त सब भीति।
सहज समर्पण भाव की, लोक सुलभ यह रीति।।०६००।।

देह तत्त्व में जा मिले, यात्री फिर भी जीव।
रुकती यात्रा, कर्म हों, जब शुभ श्रेष्ठ अतीव।।०६०१।।

सब भौतिक-बल पोषते, अहम् क्रोध की बेल।
शान्ति परम आनन्द तो, पाव तोष हट[२] हेल[३]।।०६०२।।

बुद्धि विवेक विराग का, फल सद्गुण उत्थान।
विनती सो, मन-शक्तियाँ, प्रभु ये करें प्रदान।।०६०३।।

सबका आज भविष्य है, कर्मों का परिणाम।
बली समय नहिं, कर्म हैं, सो कर पुण्य सुकाम।।०६०४।।

---

१. अनंग-मन; २. हट-हटाकर; ३. हेल-घृणा।

भव जल जीवन नाव में, मत आने दो भ्रात।
आत्मा भी न तु डूबती, पा न सके चित[1] भात[2]॥०६०५॥

बहुधा जीवन साँझ में, सजग! रहे इक साद[3]।
नहिं पूँजी सद्कर्म की, साथ दुष्ट उन्माद॥०६०६॥

कलुष[4] लगे को दे हटा, दर्पण लख जस नार।
तस मन-अघ प्रत्येक को, होकर सजग बुहार॥०६०७॥

आत्मा चेतन आरसी, सब मालिन्य निहार।
तब न विमल चित से रहे, दूर परम-पद द्वार॥०६०८॥

मात्र कर्म-निष्ठा रखें, चिन्ता सदा अकार्थ।
तब अपना करके रहे, कार्य पूर्ण पुरुषार्थ॥०६०९॥

केवल शाखायें कटें, चिन्तन है निर्मूल।
काँटे अगर बुहारने, तो काटें दुख-मूल॥०६१०॥

कुटिलइ हिन्सा शाख हैं, छल काँटों की धार।
इनें हटाने के लिये, स्वार्थ-वृत्ति को मार॥०६११॥

राग-द्वेष प्रभु-पूजना, वाणी में रह शान्त।
गेह शान्ति बन नन्द का, स्वतः मिटें मन-भ्रान्त॥०६१२॥

जीवन जीविकोपार्जन, सुख दुख चिन्ता युक्त।
इनसे, निज सामर्थ्य की, वृद्धि, कर सके मुक्त॥०६१३॥

---

१. चित-अन्तःकरण; २. भात-प्रभात; ३. साद-विषाद, पीड़ा; ४. कलुष-मैल, गन्दगी।

लख जग गति दुख के पढ़े, मौलिक कारण मात्र।
तब उनसे हट बन सके, अपने लिये सुपात्र॥०६१४॥

मुट्ठी में बालू बँधी, अस ही जीवन तोर।
बढ़ सो नित्य सुकर्म से, जनम लक्ष्य की ओर॥०६१५॥

रचित, स्वयम्-भू, सर्व का, दर्श[1] सुनिश्चित अन्त।
सो स्वजीव उद्धार के, मात्र कर्म कर सन्त[2]॥०६१६॥

सजल हृदय को कीजिये, अपनाकर सद्कर्म।
नर तन देने का यही, नियत, नियति का मर्म॥०६१७॥

उभरे प्रखर प्रवीणता, बढ़ते गति उत्साह।
मोह उबरनी चाल की, पकड़ रखें यदि बाह[3]॥०६१८॥

हरा भरा फूला फला, रुचिर रूप सम्पन्न।
सदाचार से हो सके, नैष्ठिक जग उत्पन्न॥०६१९॥

कीर्ति कामिनी कामना, कनक त्रिगुण की फाँस।
पारस बनता ले सके, इनसे बच जो श्वाँस॥०६२०॥

द्वन्द्व विषमताएँ भले, जीवन के घर द्वार।
देख! सनातन सारथी, तव रथ हाँकनहार॥०६२१॥

उठते पग को साधना, न हो पराहित देख।
क्योंकि करम लिखते फिरें, श्वाँस श्वाँस का लेख॥०६२२॥

---

१. दर्श-चाक्षुष प्रमाण; २. सन्त-अत्यन्त निर्मल व पवित्र;
३. बाह-बाहु, बाँह।

न ही समय बलवान् था, न हो कभी बलवान्।
है निज करनी ही बली, बन सहाय व्यवधान॥०६२३॥

न हो दृष्टि अध्यात्म की, न-ही हो सके सन्त।
रुक जाये जो देह पर, मैं मैं रखे रटन्त॥०६२४॥

सब आँखों का खेल है, देखें दृश्य अदृश्य।
तन दृग लखें अनित्य को, मन दृग लखते नित्य॥०६२५॥

लड़खड़ाय, गिरने लगे, जब मानव पुरुषार्थ।
सृजनहार प्रकटे तभी, सत् हितार्थ रक्षार्थ॥०६२६॥

यदि दृग हों अध्यात्म के, देखें तन के पार।
दिखे देह पीछे खड़ा, चेतन प्राणाधार॥०६२७॥

क्षण में घोर निराश के, धीरज है पितु मात।
जीते, प्राणों को जुटा, दे जो निडर हठात्॥०६२८॥

षड्रिपु प्रतिभाहीन हों, विनय पाव हंकार।
उसे स्वतः चित-जात[१] हों, स्वर्ग देव-अधिकार[२]॥०६२९॥

प्रभुता पाकर जो करें, लघुता का व्यवहार।
सजग! चूर उन गर्व को, करते सर्वाकार॥०६३०॥

दण्ड दबाव प्रलोभ के, सीमित हैं झकझोर।
संयम से वश, मात्र हों, सकल बसे-मन चोर॥०६३१॥

---

१. चित-जात-चित्त से जन्मे; २. अधिकार-शक्ति।

हिय परिवर्तन कर सके, सम्भव आत्म-सुधार।
है संयम की साधना, शुभ-चित रचनाकार॥०६३२॥

शक्य सुखी रहना नहीं, यदि पड़ौस दुखदीन।
सत् सुख उनको ही मिले, जो पर-सेवा लीन॥०६३३॥

चले प्रेम विश्वास से, जीवन, रख सहकार।
सो निभना सद्भाव का, आपस का व्यवहार॥०६३४॥

शान्ति न थिरता, आपसी, रहने दे टकराव।
प्रगति दूर की बात है, ध्वंस पक्ष द्वै[१] पाव॥०६३५॥

बालकपन में सौम्य था, युवा भयंकर दुष्ट।
दुर्गति सद्गति, संग से, हों लख, पोषित पुष्ट॥०६३६॥

घृणा न कर रह साथ, जो, पापी धूर्त गँवार।
सदाचार तव स्वयम् ही, देगा उनें सँवार॥०६३७॥

आश्रय सभी प्रकार दें, उनको जो दुखियार।
सच में ईश्वर की यही, है, सेवा सहकार[२]॥०६३८॥

समझवान् देते नहीं, तृष्णा को सम्मान।
उससे बचती शक्ति से, साधें पर-उत्थान॥०६३९॥

ताप उजेरी दी नहीं, रवि ने किया अनर्थ।
पर जब नहिं पट[३] ही खुले, दोषारोपण व्यर्थ॥०६४०॥

---

१. द्वै-दोनों; २. सहकार-सहायता देना; ३. पट-किवाड़।

घृणित कर्म हो शक्य है, पर नहिं घृणित पुमान्।
हेतु, छुड़ाना निम्नता, सो विकसें उन ज्ञान।।०६४१।।

लेकर भी प्रतिशोध को, रहे हर्ष कुछ काल।
किन्तु क्षमा आनन्द दे, थिर, चिर, उरस् विशाल।।०६४२।।

घटती नमता ज्यों बढ़े, स्वार्थ-भाव अभिमान।
जो नमता सो ही बड़ा, मन मल हट सो वान[१]।।०६४३।।

मृदु कोमलता, स्निग्धता[२], जब जब होय अभाव।
कुम्हला मुरझाने लगे, तब सद्चिन्तन चाव[३]।।०६४४।।

निष्ठा में उत्सर्ग की, शक्ति वीर्य[४] भरपूर।
कर संघर्ष अनीति से, जय पाते सो शूर।।०६४५।।

अधम-जीव उपकार के प्रत्युत दें उपकार।
पर नर ही अस जीव है, हाय! करे अतिचार[५]।।०६४६।।

एक दूसरे में रखे, जब श्रद्धा विश्वास।
प्राणों से सहयोग का, जगता तब उल्लास।।०६४७।।

तन मन कुल वाणी क्रिया, पच प्रकार की शुद्धि।
सर्व-श्रेष्ठ मन शुद्धता, सो पावन रख बुद्धि।।०६४८।।

कपट-हीन, करुणा पगा, उर, मन में पर-त्राण।
हो जाता है स्वयम् ही, उसका शुभ कल्याण।।०६४९।।

---

१. वान-चतुर व्यक्ति; २. स्निग्धता-दयालुता; ३. चाव-प्रेम, अनुराग; ४. वीर्य-साहस; ५. अतिचार-न्याय्य सीमा का उल्लंघन।

समझें महिमा कर्म की, जीवन कर्म-प्रधान।
पतित बनाते, कर्म ही, देते बना महान्॥०६५०॥

क्षमा दया सत् शीलता, कर्म, तीर्थ अविवाद।
सो अपना नति भाव से, हटें सभी अघ साद॥०६५१॥

कीर्ति लोक परलोक में, क्षमाशील की ज्ञात
सुगुण क्षमा सो तीर्थ है, सबसे बढ़कर, ख्यात॥०६५२॥

गङ्गा आत्मा-रूप है, परम तीर्थ अस्थान[१]
सो आत्मा अनुभूति का, कर प्रणाम कर पान॥०६५३॥

अन्तस अभिभावक सखा, दिग्दर्शक निस्स्वार्थ।
सुन यदि अन्तस की चलें, तब हो सभी सुखार्थ॥०६५४॥

साहस धैर्य विवेक से, सहना दुख का ताप।
समाधान नूतन तभी, दे तप दुख का आप॥०६५५॥

क्लीव बने मन क्षीण[२] हो, हो भी जगत् हँसाय।
बचने का दुख हेतु से, उपक्रम है दुखदाय॥०६५६॥

साहस विद्या धीरता, करे विवेक प्रदान।
सर्व छली-विन्यास का, मिटता धर्म, ठिकान॥०६५७॥

इच्छा मारे भक्ति को, करे क्रोध मति नाश।
कर्मों को अपकर्ष दे, लोलुपता का पाश॥०६५८॥

---

१. अस्थान-स्थान; २. क्षीण-कमजोर, क्षय को प्राप्त।

मानव गरिमा को करे, नम्र भाव आयुष्य।
बने अहम् के त्याग से, नर-पशु किन्तु मनुष्य॥०६५९॥

सज्जनता सद्भावना, संयम क्षमा विशाल।
नैतिक चिन्तन के बिना, पर मानव कंगाल॥०६६०॥

ऊँची आशायें रखें, करनी तद्-अनुकूल।
किन्तु सभी भवितव्य के, सह लें हँस हँस शूल॥०६६१॥

होता साक्ष्य अभाव में, पापी कुत्सित कोप।
सो शंका अनुमान से, पर सिर दोष न रोप॥०६६२॥

होता ईश्वर भक्ति का, चित-उदार इक भाग।
विभुरत, निष्ठुर स्वार्थ का, करे इसी-से[१] त्याग॥०६६३॥

जिसे न बदला जा सके, सहना उसे सधीर।
सहनशक्ति के ताप से, मानव बनता वीर॥०६६४॥

'मा' माया, 'न' नहीं बिना, व सूचक व्यवहार।
सो मानव का अर्थ है, बिन माया प्रतिहार[२]॥०६६५॥

हों समाज, आदर्श भी, कुचले दबे निरस्त[३]।
मानव आत्मा लेश भी, जब तक अघ से त्रस्त॥०६६६॥

दर्पण अपनी चेतना, सो मन-कलुष निहार।
पा तब सकते श्रेष्ठता, अपने न्याय[४] विचार॥०६६७॥

---

१. इसी से-इसी कारण से ही; २. प्रतिहार-निवारण, समाधान; ३. निरस्त-त्यक्त; ४. न्याय-विवेक।

अन्तः शुचि सौन्दर्य दे, मन को शान्ति विराम।
गढ़ें रीति निज-वृत्तियाँ, सो सत्-सिद्ध ललाम॥०६६८॥

मनुज-सार चित-चेतना, करती सर्व उपाय।
सो इसको साधें, बनें, साधन तभी सहाय॥०६६९॥

उर में प्रभु विश्वास की, दीप-शिखा को ज्योत।
तब प्रयास तव पा सकें, शक्य न थीं जो कोत[१]॥०६७०॥

ज्ञान भक्ति को पा सकें, केवल कर्म-पुनीत[२]।
क्योंकि क्षमा दय प्रेम में, हैं विभु प्रकट प्रतीत॥०६७१॥

दुख पीड़ा आसक्ति है, है विराग आनन्द।
तन-हित ही निज ऊर्ज को, सो न विनश मतिमन्द॥०६७२॥

धर्म और कर्तव्य का, सदाचार है सार।
सार्थ वही सो, जी सके, जो मम के हो पार॥०६७३॥

सुख की स्वप्निल खोज ही, सदा समस्या स्रोत।
तड़ित कड़क सम कोंधती, कर-सुकर्म सुख-जोत॥०६७४॥

मिली विफलता से न हों, कभी कुण्ठ[३] भग्नास।
निज प्रतिभा पर ध्यान दें, पुनि तब करें प्रयास॥०६७५॥

रखें उपेक्षा, भाव में, भूलें प्रभु आहूति[४]।
निज जीवन प्रति जन्म ले, तब असार[५] अनुभूति॥०६७६॥

---

१. कोत-दिशा; २. कर्म-पुनीत-वे जिनके कर्म पुनीत हैं; ३. कुण्ठ-अशक्त; ४. आहूति-पुकारना; ५. असार-सारहीनता, निरर्थकता।

निज जीवन से सृष्टि से, हटा सकें सब पीड़।
यदि समझें सर्वत्र ही, रचित सभी, विभु नीड़॥०६७७॥

सकल लोक गति बन्ध हैं, कर्म-भोग सिद्धान्त।
बाधें सो मर्याद में, कर्मों को रख क्षान्त[१]॥०६७८॥

आदर्शी उत्कर्ष के, लें उठ भाव हिलोर।
टिक नहिं तब चित में सकें, खल-पग, भले कठोर॥०६७९॥

भगवत् रूपी वृक्ष से, आत्मा रूपी बेल।
लिपटायें, महिमा मिले, ईश्वर सम अलबेल[२]॥०६८०॥

सेवा मान उपासना, गुण गुणियों का गान।
विकसें सद्गुण, दें हटा, वासन, दे विभु ध्यान॥०६८१॥

धर्म शान्ति सम्पन्नता, करती भक्ति प्रदान।
सुगुण, प्रेम से पास में, लाये बन्धु समान॥०६८२॥

भारी कितना भी भले, लगे कभी नहिं भार।
शक्ति प्रेम की कर्म में, है यह, सो दे पार॥०६८३॥

घृणा क्रोध का लेश भी, मन में नहीं उतार।
पाने को दिव्यत्व को, त्याग द्वेष-व्यवहार॥०६८४॥

उर में ईश विराजता, सतत् करें अनुभूति।
तब निस्सृत आनन्द की, अविरल मिले विभूति॥०६८५॥

---

१. क्षान्त-सहनशीलता, क्षमाशील; २. अलबेल-अनूठा।

ऋद्धि चित्त की दे बढ़ा, करे कर्म गुणवान्।
भरता पूति स्वभाव में, है वह सच्चा ज्ञान॥०६८६॥

कर उत्पन्न उपासना, ज्ञान, सतत्-अनुभूति।
होती अन्तर्निष्ठ से, तब आनन्द प्रसूति॥०६८७॥

माँगे से सत् प्रेम का, देते प्रभु वरदान।
अतः सदैव उपासना, करना उनका ध्यान॥०६८८॥

रक्ति[1] जुगुप्सा[2] शत्रुता, तृष्णा का विक्षोभ[3]।
वैभव ममता वासना, नर में दानव लोभ॥०६८९॥

चाहे माँ सन्तान का, प्रतिपल ही कल्याण।
तस है मात, मनुष्यता, पग पग दे सत्-प्राण[4]॥०६९०॥

पड़, नर करे, कुचक्र में, निज पर, हित पर वार।
मात्र पाठ मनुजत्व का, दे तब सकता पार॥०६९१॥

जीवन बिन परमेश के, बिन सौरभ जस फूल।
बिन आत्मा के देह है, जैसे द्रुम निर्मूल॥०६९२॥

कहे मुक्ति मैं चाहता, जब हो नर को राग[5]।
स्वतः मुक्ति को पा सके, रे! मैं, चाहत, त्याग॥०६९३॥

की गइ अर्चा मौन हो, सुन दें उचित निवार।
दूर न सो विभु, तेज हैं, चित में बसे, निहार॥०६९४॥

---

१. रक्ति-आकर्षण; २. जुगुप्सा-घृणा; ३. विक्षोभ-आतंक,
४. सत्-प्राण-सच्ची शक्ति; ५. राग-कष्ट, क्लेश।

वासनाओं की मेटना, बहुधा शक्य न प्यास।
या ये सजग! विषाद दें, धीम धीम या नास॥०६९५॥

जगते जो सम्वेदना, दया कराते प्राप।
पथ वे सेवा शान्ति के, दे जाते मति आप॥०६९६॥

आत्मा को जाने बिना, दृश्य-जगत् का ज्ञान।
झूठी थोथी सूचना, है पाखण्ड समान॥०६९७॥

मात्र भौत उपयोग हैं, व्यक्त स्वभाव प्रमान।
आत्मा-व्याप्त पदार्थ-में, न तु दें लेश न ज्ञान॥०६९८॥

वही मूल धर्मिष्ठ[1] है, लखे जीव में ईश।
पर दुख से जो हो दुखी, वही मनुजताधीश॥०६९९॥

शान्ति अहिन्सा सत्यता, अछल-प्रेम उर-धार।
भवन तभी ले धर्म का, चित में नित्याकार॥०७००॥

स्नेह सघनता आपसी, रोके स्वहित-विनास।
अवसर करे प्रदान, हो, जिससे सर्व विकास॥०७०१॥

करे, सदैव सहायता, नहिं आहत संघात।
सेवा मानव मात्र की, माधव सेवा तात॥०७०२॥

निर्भर की सेवा करें, उसके बनें सहार।
तब जीवन में पुण्य का, मिल पाता अधिकार॥०७०३॥

---

१. धर्मिष्ठ-धर्मात्मा।

भूत बने पीछा करें, अपने दुष्टाचार।
पड़ें भोगने दण्ड, हों, भले जनम लख[१] बार॥०७०४॥

सहज भटकना भागना, मन विषयों की ओर।
ध्येय ओर लाना पड़े, सो कर सतत् निहोर॥०७०५॥

कब तक जीवन मृत्यु को, ढोयेगा बिन बात।
पकड़ शरण विभु की छुटें, बन्ध सभी तब तात॥०७०६॥

करते हैं, लघु हो भले, शुद्ध हृदय से काज।
सार्थ महत् सद् ही मिले, तब फल कल या आज॥०७०७॥

तृषा वासना में बँधा, जब तक रहता जीव।
तब तक सत् प्रत्येक से, हट, मल जिये अतीव॥०७०८॥

उठा सका, नहिं उठ सका, बना रहा भू भार।
प्रभु प्रदत, वह जन्म को, करे कलंकित क्षार॥०७०९॥

पर सुन्दरता से न हो, आकर्षित, नहिं रीझ।
लख निज अन्तर मन्जुता, लख तन-रंग न खीझ॥०७१०॥

सद्-प्रवृत्ति सद्भाव से, जितना चित संलिप्त।
उतना प्रभु सामीप्य से, जीवन होता तृप्त॥०७११॥

शोधन कर्म स्वभाव का, पावन-गुण अभ्यास।
यही, अलख की साधना, जीवन परम विकास॥०७१२॥

---

१. लख-लाख, सौ सहस्त्र।

आत्मा की रक्षा करे, आत्मा ही, नहिं और।
पवित चलन से सो रखें, आत्मा को सिरमौर[१]॥०७१३॥

अपनेपन का बर्तना, बढ़े असीमित जोय।
आत्म-बोध जगता तभी, जीव स्वतः विभु होय॥०७१४॥

स्वर्ग आत्म-सन्तोष को, कहें, सिद्ध विद्वान।
वही अधिक सबसे करे, सुख-शम क्योंकि प्रदान॥०७१५॥

अन्दर का दारिद्र ही, बाहर का दारिद्र।
आत्म-भाव विस्तृत करें, देखें नहिं पर-छिद्र॥०७१६॥

ऐसा कुछ नहिं कीजिये, धिक्कारे जो प्राण।
आत्मदण्ड यह पीड़ दे, शक्य न जिससे त्राण॥०७१७॥

सरल अछल है व्योम सा, सागर सम अविकार।
भरी प्रीत-रस गागरी, जिसकी, वह अवतार॥०७१८॥

महत्पूर्ण कर्तृत्व ही, होते मापाधार।
मूरख जीवन ऊँचता, आँकें वन्श अनुसार॥०७१९॥

चित बैठा, विश्वास से, आत्म-तत्त्व-विश्वास।
प्रसवन[२] करते सृष्टि का, तब इक दिपे उजास॥०७२०॥

सेवा सेवक सेव्य[३] की, दुष्कर दूभर गूढ़।
गला डालना ही पड़े, मैं पर मैं आरूढ़॥०७२१॥

---

१. सिरमौर-शिरोमणि, सर्वश्रेष्ठ, २. प्रसवन-उत्पन्न करना, जन्म देना; ३. सेव्य-रक्षणीय।

अहम्कार से सर्वथा[१], है दुर्दम छुटकार।
सफल हुआ, वह पा गया, लोक मुक्ति का द्वार॥०७२२॥

दे निकाल चित-धर्म से, हठ-धर्मी पाखण्ड।
सक्षम गढ़ने में वही, चित में स्वर्ग-अखण्ड॥०७२३॥

क्षणिक देह जीवन्तता, जगत्-नियम अविवाद।
इसका अर्थ कि एक भी, कर नहिं पल उत्साद[२]॥०७२४॥

हरी रहे जड़ पुण्य की, पहुँच सप्त-अवधाम[३]।
सो कर शुभ, जन्मों मिलें, उसके सद् परिणाम॥०७२५॥

मेधा में, ऐश्वर्य में, चमत्कार विदमान।
गरिमा हीय-विशाल की, पर अधि शुभद महान्॥०७२६॥

ईश कृपा की पात्रता, अर्जित करिये आप।
ईश्वर ने कुछ नहिं दिया, तब तक व्यर्थ अलाप॥०७२७॥

करनी कथनी सोच में, पल पल रखा विवेक।
सर्व-श्रेष्ठ यह ईश का, वन्दन भजन अरेक[४]॥०७२८॥

देही इक ही, देह हैं, भिन्न भिन्न हो बोध।
मन्दिर मन हो, सार्थ हो, तब अर्चन[५] अनुरोध॥०७२९॥

वीणा मनुज शरीर, हैं, मधु-कृत तान, निकाल!।
तू डूबे आनन्द में, दूजे भी तत्काल॥०७३०॥

---

१. सर्वथा-पूर्णतः; २. उत्साद-नाश, क्षय; ३. अवधाम-पाताल, अधोलोक; ४. अरेक-निस्सन्देह; ५. अर्चन-पूजा।

आत्मा हूँ विश्वास ही, मन को रचे पुनीत।
ईश निवेदन की जगे, इच्छा तभी विनीत॥०७३१॥

शुक-रटन्त नहिं दे सके, परम-सत्य सञ्ज्ञान।
न दे नन्द जस तीर्थ का, मानचित्र का गान[१]॥०७३२॥

यात्रा है मरुभूमि की, भोगेच्छा की तुष्टि।
अतः भोग-रति से हटा, तभी हटें मन दुष्टि[२]॥०७३३॥

अनुशासन आबद्ध है, ईश निसर्ग-निधान।
दण्ड पाव जो लाँघता, इसका लेश विधान॥०७३४॥

अन्तः शुचि शालीनता, कण्ठ विनय हो सौम्य।
हृदय दृष्टि में प्रेम हो, तब मन बनता धौम्य[३]॥०७३५॥

बने सर्व-कल्याण का, जग, जब हो अक्रूर।
मन मन मल को सो करें, स्व-अध्ययन से दूर॥०७३६॥

सुधिजन सरजेता उठें, ले सेवा-संकल्प।
मन मन सद् कृत भाव के, उग जो सकें विकल्प॥०७३७॥

दुखित मनुजता की करे, सेवा, निज संस्कार[४]।
यही लक्ष्य है, सृष्टि में, मनुज जन्म का सार॥०७३८॥

अभिवर्धन गुण शील का, है आत्मिक आधार।
बढ़ा आत्म-बल, दे बना, जो नर को अवतार॥०७३९॥

---

१. गान-बखान; २. दुष्टि-दोष; ३. धौम्य-ऋषि धौम्य जैसा; ४. संस्कार-शुद्धि।

सद्-चरित्र ही शस्य[१]

हो जाता आचार से, नर चरित्र जग-ज्ञात।
नहिं सो रखें असत्य का, कर्म, हृदय की बात॥०७४०॥

अर्जन हेतु सुझाव दें, कलियुग-मार्ग अनेक।
आदर श्रम का पन्थ ही, पर मंगलकर छेक॥०७४१॥

रञ्च नहीं सुख शान्ति में, वृद्धि दृष्टिगत होय।
यह चरित्र है, दैन्य में, डूबे नर को जोय॥०७४२॥

मानव जीवन आज में, भाँति भाँति के दोष।
लख! हैं नर आचार में, उनके कारण कोष॥०७४३॥

मुदित दशा प्रत्येक में, रह, चित न हो मलीन[२]।
क्योंकि मलिनता से बने, नर कर्तव्य-विहीन[३]॥०७४४॥

जीवन यात्रा के लिये, मन हो शुद्ध पवित्र।
दुख की न तु रहतीं, दशा, बिगड़ा रहे चरित्र॥०७४५॥

तन छूटे पर व्यक्ति का, वर्णन रहे सुजान।
जीवन को अमरत्व भी, करता चरित प्रदान॥०७४६॥

कहें ज्ञान ही शक्ति है, सत्य नहीं उद्गार।
सच चरित्र ही शक्ति है, जग अनुभव का सार॥०७४७॥

---

१. शस्य-प्रशन्सनीय; २. मलीन-उदास; ३. विहीन-रहित।

ज्ञानी आवश्यक नहीं, हो चरित्र आगार।
पर लख, विमल चरित्र है, जो दे ज्ञान सँवार॥०७४८॥

सद्-चरित्र है सम्पदा, उनकी, बनें महान।
जिनके रहे स्वभाव में, सर्व-स्वार्थ का मान॥०७४९॥

आदर वन्दन पा सके, उज्ज्वल चरित निधान।
यह चरित्र है जो बने, नर को पतित महान॥०७५०॥

सुयश दृष्टि-शुभ योग्यता, अर्थ सम्पदा ज्ञान।
निर्मल चरित अभाव में, सब कुछ मृदा समान॥०७५१॥

कवि विज्ञानी विज्ञ हों, निज निज क्षेत्र महान।
सुचरित बिना समाज में, पर पावें नहिं मान॥०७५२॥

जानकार कोरा रहा, जाना नहिं आचार।
रहता ऐस चरित्र का, सहता हुआ दुखार॥०७५३॥

आज जिनें आदर मिले, स्वाभाविक सन्देह।
चारित्रिक मर्याद से, है क्या उनको स्नेह॥०७५४॥

रुचि परिवर्तन संग ही, बदलें, मूल्य चरित्र।
सजग! न दे-जायें कहीं, दुर्गुण, दुख, अपवित्र॥०७५५॥

उज्ज्वल विमल चरित्र का, मूल रूप चिर सत्य।
पर असत्य की वृत्ति में, अनाचार अधिपत्य॥०७५६॥

आत्मा से आबद्ध ही, रहता अमर चरित्र।
जीवन उज्ज्वल, सो रखें, अन्तः बना पवित्र॥०७५७॥

है चरित्र का सभ्यता, ऐसा निखर स्वरूप।
दर्शाती कर्तव्य को, बटिया, सुगढ़ अनूप॥०७५८॥

सत्य सुशील सहिष्णुता, उपकारी-उद्भास[१]।
धर्म प्रेम करुणा दया, करते चरित विकास॥०७५९॥

नैसर्गिक प्रत्येक में, क्षमताएँ विदमान।
न्यूनताओं को सो हटा, न बन हीन-चितवान्॥०७६०॥

चिन्तन को आकार दें, मति को पोषक तत्त्व।
दैनिक लघु आचार ही, रचें चरित शिष्टत्व॥०७६१॥

कठिनाई हों पार, सो, गिर-उठ बढ़ना सीख।
इससे बढ़े जिजीविषा, समाधान की दीख॥०७६२॥

बढ़ती महत्त्वाकांक्षा, उड़े कल्पना व्योम।
रूप कल्पना पा सके, तब सुचरित से सोम॥०७६३॥

जब हो महत्त्वाकांक्षा, ऊँची सीमा पार।
परखे बिन निज शक्तियाँ, तब हों कर्म कुठार[२]॥०७६४॥

रखतीं महत्त्वाकांक्षा, स्वपनों से[३] निष्कर्ष।
तदनुकूल आसक्तियाँ, सो दें तब अपकर्ष॥०७६५॥

---

१. उद्भास-दीप्ति, प्रकाश; २. कुठार-नाश करने वाला;
३. से- जैसे।

मात्र काम का ज्ञान लें, बरते जो उपयुक्त।
न तु विरथा अधि जानना, हो असत्य छल-शुक्त[१]॥०७६६॥

भूतकाल का है सखे, वर्तमान परिणाम।
सुरस-भाव शुभ सर्व के, सो रख अपने काम॥०७६७॥

आदत की अनुभूतियाँ, निर्मित करें चरित्र।
चिन्तन किन्तु चरित्र को, दे शुभ सजन[२] धरित्र॥०७६८॥

आदत बने विचार में[३], समझा हानि विकार।
पापी चरित जघन्य का, तब है शक्य सुधार॥०७६९॥

जो दें हमें उपासना, हैं वे भोग्य-चरित्र।
कर्म बना उनको, ढले, तब चित शान्त पवित्र॥०७७०॥

दृष्टिकोण कृत-शैलियाँ, करके प्राञ्जल सूप।
निखरा वाञ्छित दे सकें, नित चरित्र को रूप॥०७७१॥

सँजो विचार विशुद्धता, कर तो सही प्रयास।
निश्चित है परिवर्तिता, जो भी चरित परास॥०७७२॥

बदल सके कुछ भी कभी, नर है क्षमतावान्।
सो निज मार कुवृत्तियाँ, कर थिर-चित दृढ़-ठान॥०७७३॥

विदुर वही जो स्वयम् का, गिरने नहिं दे मोल।
प्रगतिशील सो सर्वदा, रह, रख चरित विलोल॥०७७४॥

---

१. शुक्त-संयुक्त; २. सजन-सज्जन; ३. आदत बने विचार में-विचार में आदत बन जाता है अतः उसके।

नरियल फल बाहर कड़ा, भीतर कोमल मिष्ट।
तस सज्जन दृढ़ नीति में, हों, पर पर-हित शिष्ट[१]॥०७७५॥

पकड़ जकड़ निज आदतें, गढ़ीं पार्थिव[२] जोय।
सेवा स्वार्थ-विराग से, उनें हटा चित धोय॥०७७६॥

सदाचार विभु-भावना, सेवा संयम ज्ञान।
इन सेवन कर सर्वदा, मान पियूष[३] समान॥०७७७॥

योग्य अनुकरण के रखें, निज कर्मों का वेश।
नहिं दे कथन, प्रभाव का, क्योंकि सार्थ-उपदेश॥०७७८॥

त्याग कुटेबी आदतें, तम[४] का कर परित्याग।
तब ले जन्म चरित्र में, दिव्य गमन की जाग[५]॥०७७९॥

ढले खिलौना स्वयम् को, साँचे के अनुरूप।
करें स्वयम् सो, सीख लें, जो अन, उतना सूप[६]॥०७८०॥

जीवन निश्चित काल है, हो नहिं पल भी व्यर्थ।
गढ़ता ऐस सचेत ही, जीवन चरित समर्थ॥०७८१॥

पारायण से ग्रन्थ के, वर्तन[७] हो नहिं एक।
चरित बने सीखा, जगें, तब चित-शक्ति अनेक॥०७८२॥

चरित उठा ऊँचा रखें, सद्गुण बन कर्तव्य।
सो यश आत्मा का रखें, रक्षित विकसित भव्य॥०७८३॥

---

१. शिष्ट-सुशील; २. पार्थिव-सांसारिक; ३. पियूष-अमृत; ४. तम-तमोगुण; ५. जाग-जागृति; ६. सूप-श्रेष्ठ, शुचिपूर्ण; ७. वर्तन-व्यवहार, आचरण।

होना, मनुज महान्

जग में मात्र पुनीत है, अविरत प्रगति प्रयास।
दे प्रपञ्च मन से हटा, उसका क्योंकि उजास॥०७८४॥

थोड़ी उन्नति-योजना, रच, सटीक कर काम।
लक्ष्य जये तब जा सकें, शनैः शनैः अविराम॥०७८५॥

सहज दिखावे की क्रिया, 'होना', कठिन सुधार।
होने बनने के लिये, निशि दिन मैं को मार॥०७८६॥

गलना ढलना ही पड़े, कुछ होने के हेतु।
मन से पड़ते तोड़ने, स्वार्थ सक्ति मम सेतु॥०७८७॥

'होने' 'बनने' की क्रिया, दे मंगल परिणाम।
'होना' सम्भव, तन मनो, करें विकट सत् काम॥०७८८॥

'होना' कठिन अवश्य है, है नहिं किन्तु असाध्य।
श्रम कठोरतम साधना, कर सो विनत[१] अबाध्य॥०७८९॥

'होना' सृजन, विकास है, अन्तर-ज्योति, विवेक।
चित पवित्र का हर्ष है, है पाना विभु टेक॥०७९०॥

'होने' के आचार में, निखरे मौलिक रूप।
विकसित हों, निज शक्तियाँ, कौशल हीय अनूप॥०७९१॥

---

१. विनत-शिष्ट।

'होना' निज अस्तित्व का, स्वाभाविक प्राकट्यं।
अन्तर्निहित पुनीत का, होना होता नट्य[1]॥०७९२॥

विपुल चेतनावान् हो, चित जो कण्ट न बोय।
'होना' ऐसा चाहिये, जिसमें मानव होय॥०७९३॥

'होना' होना चाहिए, रेचित[2] उरस्-सुभाय।
जिससे जीवन लक्ष्य को, सहज मनुज पा जाय॥०७९४॥

मैं से हम की यात्रा, 'होना' जीवन साध।
रूपों में तब भासता, 'मैं' एकत्व अगाध॥०७९५॥

विकस मनोबल स्वयम् का, समाधान कर आप।
तब जीवन सर्वांग को, प्रगति हो सके प्राप॥०७९६॥

विकसें निज उत्कृष्टता, सांगोपांग अमेय।
प्राप आत्म-कल्याण का, हो तब सकता ध्येय॥०७९७॥

निर्मल आत्मा को रखे, मन कषाय से मुक्त।
जीवन पल उसके बनें, सच में तब सुख-युक्त॥०७९८॥

जो अवसर प्रत्येक का, करते सद्-उपयोग।
उनसे आ उत्थान के, मिलते स्वर्ग-सुयोग॥०७९९॥

प्रेम-भरी सेवा बने, धर्म, स्वभाव विनीत।
तब उत्थिति व्यक्तित्व को, मिले कल्पनातीत॥०८००॥

---

१. नट्य-अभिनय; २. रेचित-परिष्कृत।

सत्य, मृत्यु का जान

पल छिन करके हो रहा, जीवन समय समाप्त।
हाय! नष्ट नहिं हो रहा, ऐसा मन-भ्रम व्याप्त॥०८०१॥

जस जल रिस-दें, वस्त्र की, थैली से लघु रन्द।
सरके ऐसे अनकहे, जीवन गति से मन्द॥०८०२॥

अन्त न हो इस लोक में, जिसका, ऐस न कोय।
तत्त्व विनिर्मित अन्त में, तत्त्व समाहित होय॥०८०३॥

मिटने को ही हो रहीं, सब बनावटाकार।
पञ्च तत्त्व जो रूपते, अन्त-रूप निरकार॥०८०४॥

सृष्टि-नियम, हो देह का, पञ्च-तत्त्व बिखराव।
जानें, भ्रम फिर भी रखें, हम पर नहीं प्रभाव॥०८०५॥

जितनी संग्रह वृत्ति हो, बढ़े राग रति द्वेष।
मृत्यु भीति की ग्रस्तता, उतनी रहे अशेष[१]॥०८०६॥

नैसर्गिक है मृत्यु का, घटना सबके साथ।
सो रख सहज उमंग का, जीवन, न डर अकाथ॥०८०७॥

करना स्वागत मृत्यु का, यह अस विश्रम[२] थान।
पुनः जहाँ से पा चले, जीव-नवल तन-त्रान[३]॥०८०८॥

---

१. अशेष-अपार; २.विश्रम-विश्राम; ३. तन-त्रान-तन रूपी कवच।

सबके जीवन पन्थ में, मरना सहज पड़ाव।
जहाँ कर्म-फल नीति से, जीव गात नव पाव॥०८०९॥

सच से जीवन मृत्यु के, कतराते जो लोग।
उन मन घबरा मृत्यु से, भय का पा ले रोग॥०८१०॥

मरण भोर संकेत है, तव, नव जीवन दूत।
सो न कभी मन में बसा, मरने का भय-भूत॥०८११॥

मन ही मन, मन मृत्यु से, दूरी रखे बनाय।
भोग लगावों का उसे, रस अति क्योंकि सुहाय॥०८१२॥

भाव-बद्ध हो, छोड़ना, नहिं चाहे परिवार।
मन पर रखता मोह का, मोह यही भय-भार॥०८१३॥

भले क्षीण हो या न हो, देह पाव पर अन्त।
सत् गोचर यह, पालना, सो कर्तव्य तुरन्त॥०८१४॥

जीवन क्रम में मृत्यु को, सहज अवस्था मान।
नींद मृत्यु जगना जनम, भय से मुक्ति विधान॥०८१५॥

जग-बन्धन से मुक्ति के, हों विचार-सञ्चार।
मन का मिलता मृत्यु को, तब सदैव सत्कार॥०८१६॥

प्राण सनातन, देह का, सच है भंगु[१] स्वभाव।
मरने के भय से यही, रखती सोच बचाव॥०८१७॥

---

१. भंगु-नष्ट होने वाला।

अनुभवगत संसार की, सतत् साधना शोध।
देह-मृत्यु चिर-तत्त्व का, देती विस्तृत बोध॥०८१८॥

रखता नहिं जब प्राण से, यह तन सामञ्जस्य।
आने का तब मृत्यु का, इतना मात्र रहस्य॥०८१९॥

मृत्यु-विजय सम्भव नहीं, इससे लेना सीख।
भय नहिं जी आनन्द में, जीवन स्वर्ग सरीख॥०८२०॥

मृत्यु मुक्ति है जीव की, जब हो समझ विचार।
तब स्वागत में मृत्यु के, रहता नर तैयार॥०८२१॥

प्रतिदिन नूतन जन्म है, दृढ़ कर यह विश्वास।
स्वतः श्रेष्ठ होने लगें, तब निज पग के यास॥०८२२॥

भय का नहिं आनन्द का, मृत्यु-सोच दे ज्ञान।
क्योंकि मिलन निज तात से, पाते हैं तब प्रान॥०८२३॥

मुँह से काल कराल के सम्भव नहीं बचाव।
रखकर, जी आनन्द में, जनम मरण समभाव॥०८२४॥

जीवन यात्रा मृत्यु में, पाती मात्र टिकान[१]।
जीव जहाँ पर शान्ति से, पहिने नव परिधान॥०८२५॥

इस जीवन्त प्रवाह में, देह त्याग ध्रुव सत्य।
भय का होने दें नहीं, सो मन पर अधिपत्य॥०८२६॥

---

१. टिकान-पड़ाव।

गझिन मृत्यु-भय को करे, मैं मेरा की लाग।
तब भी, जब घन ताप हों, तजे न मन तन-राग॥०८२७॥

मृत्यु भयावी ही लगे, यदि नर जग-आसक्त।
सो सब प्रति कर्तव्य को, निभा, मोह रख त्यक्त॥०८२८॥

चिन्तित आत्मोत्थान को, जर्जर तन असमर्थ।
धन्य मृत्यु, सम्भव किया, नूतन जन्म तदर्थ[१]॥०८२९॥

ईर्ष्या द्वेष कषाय से, दूर, निमग्न उदार।
जीवन हो तब गीत सा, आनन्दित सुकुमार॥०८३०॥

अगणित जीवन मृत्यु के, पार हो चुका, जान।
मरना मर्मान्तक नहीं, नव जीवन वरदान॥०८३१॥

जग-सत्यों में मृत्यु सा, कोउ न दे उपदेश।
जो सुनता, नर जन्म का, जाना वह उद्देश॥०८३२॥

भंगुरता तन-वृत्ति है, आत्मा की चिर-नित्य।
सो मुदमय जी, हो नहीं, मृत्यु भीति में मृत्य॥०८३३॥

सहज बसे जब भाव में, जीवन-मृत्यु विवेक।
महापर्व आनन्द का, लगे मृत्यु तब एक॥०८३४॥

सम्यक् जीवन मृत्यु का, बरते पा सज्ञान।
विलय अमर-पद नन्द में, हो वह जीवन प्रान॥०८३५॥

---

१. तदर्थ-उसके लिये; २. जो सुनता- जो सुनाता है।

मात्र-धर्म मनुजत्व

मानवता का अर्थ है, करना पालन धर्म।
है यह भी, पर-तत्त्व[१] सा, मौलिक जीवन मर्म॥०८३६॥

अन्तः करुणा हीय का, होना विशद्[२] विशाल।
रखे अडिग मन दृष्टि को, मानवता में ढाल॥०८३७॥

जिस उर करुणा मर गई, व्यर्थ प्रेम की खोज।
नहिं सम्वेदनशीलता, मिले न सत् का ओज॥०८३८॥

विरथा ही करता फिरे, माथा-टेक नहान।
सर्वाधिक न तु जीव से, बरती दया महान्॥०८३९॥

बैठ सोच ले सोच ले, मिले करम परिणाम।
दिन देरी होवे भले, आज नहीं कल शाम॥०८४०॥

चल आदर्शों पर करें, दायित्वों के कर्म।
इनसे नहीं महान् हैं, कोउ साधना धर्म॥०८४१॥

कर्म कलुषता के करे, मुद होता मन माँहिं।
अवसि आँख, फल कर्म के, दर्शन पर, तव नाहिं॥०८४२॥

करनी सँग तेरे करे, कोई कितनी नीच।
तू पारस हो जायेगा, सह ले अँखियाँ मीच॥०८४३॥

---

१. पर-तत्त्व-ब्रह्म तत्त्व; २. विशद्-स्वच्छ।

अन्तस की सुनता, चले, मन-पग उसी समान।
एक सुधा का स्वयम् ही, तब बरसे वरदान॥०८४४॥

शास्त्रों का श्रम से किया, अध्ययन हुआ सुजान।
है पशु, जो फिर भी रखे, यदि अधर्म में ध्यान॥०८४५॥

साधो है किस काम का, तेरा यश धन मान।
नहीं सहारा दीन को, दे ठोकर अपमान॥०८४६॥

त्याग कामना वासना, कर्तापन अभिमान।
परिजन राष्ट्र समाज की, मात्र साध हित-ठान॥०८४७॥

लोक पलायन कर किया, कन्दर में आवास।
जगहित काम न आय जो, व्यर्थ योग सन्यास॥०८४८॥

वस्तु मोल को आँकता, नर का उसका-ज्ञान।
किन्तु मूल्य का स्वयम् में, क्या क्या, नहिं पहिचान॥०८४९॥

मातृभूमि निज मातु को, झुका हृदय से शीश।
ममता रक्षण पोष में, क्योंकि दोउ जस ईश॥०८५०॥

रहे निठल्ला चोर है, रोटी तब जब काम।
तन मन भी रोगी बनें, पाकर अकर[१] विराम[२]॥०८५१॥

तन कुरूपता पर पड़े, भारी मन-विद्रूप।
सुन्दर को जानें, बनें, अन्ध कूप नहिं, सूप॥०८५२॥

---

१. अकर-निष्क्रिय; २. विराम-विश्राम, ठहराव।

हृद् से ही निकले, सुनो, भाषा, दे सत् शर्म।
मात्र प्रेम का कर्म है, सो मानव का धर्म॥०८५३॥

झगड़े भ्रम अपराध की, जड़ है धन का राग।
विभु से माँग विनम्रता, सेवा प्रेम-सुहाग[१]॥०८५४॥

धन के वैभव में नहीं, रहता यश विदमान।
सज्जनता शालीनता, पर बनती श्रीवान्॥०८५५॥

लख मन में किन चोर ने, थायी किया निवास।
प्रेम प्रीत को दे दिया, जिनने चिर बनवास॥०८५६॥

उपजाये उर में दया, करता प्राण बचाव।
ऐसा किया असत्य भी, सच सम श्रेष्ठ निभाव॥०८५७॥

क्रोध मोह मद ईर्ष्या, तृषा लोभ छल काम।
नर के बड़तम शत्रु हैं, मिथ्याचार उदाम[२]॥०८५८॥

वाक्जाल चालाकियाँ, छल, थोथे विश्वास।
तज प्रलोभ सो सत्य ही, चुन, जिसमें उल्लास॥०८५९॥

कीच-फेंक आलोचना, सन्तों तक की होय।
सो नहिं सद्-संकल्प से, हट, रख सत्य सँजोय॥०८६०॥

मर्यादाओं के जिनें, हैं बन्धन स्वीकार।
पुरुषोत्तम बनते, वही, आत्मशक्ति आगार॥०८६१॥

---

१. सुहाग-सौभाग्य; २. उदाम-उद्दाम, उग्र।

ठान आत्म-बल साधना, बनते मिल वरदान।
मर्यादित उपयोग से, नर हो ईश समान॥०८६२॥

करनी चिन्तन जैस हो, वैसा गढ़े स्वभाव।
इससे करनी सोच के, उन्नत करें उपाव॥०८६३॥

अहम्-रहित बन त्यागना, स्वार्थासक्त विवाद।
तप यह, गुरुता मानवी, दे, हट सर्व-विषाद॥०८६४॥

आये तेरे द्वार जो, याचक माँगन हेत।
बन तुझ पर जैसा पड़े, दे चित-मुदा समेत॥०८६५॥

सद्विचार सद्मार्ग का, सबको ही, दे ज्ञान।
धन विद्या सहयोग में, घटत न हो, दे दान॥०८६६॥

मात-पिता का है दिया, यह मृद्-तन उपहार।
प्राण ईश का, मानना, सो त्रय का उपकार॥०८६७॥

जस पोषण पर ध्यान दें, हो जब अति की भूख।
काम कामना के करें, तस नहिं पोषित रूख॥०८६८॥

करें, स्वयम् पर स्वयम् का, है निर्भर कल्याण।
पर कर, परहित मात्र से, हो सुख-झर[१] निर्माण॥०८६९॥

गमन वैद्य को चाहिये, जहाँ भयानक रोग।
तस उनकी सेवा करें, व्यथा-ग्रसित जो लोग॥०८७०॥

---

१. सुख-झर-सुख आनन्द का झरना।

वन वन जाना व्यर्थ है, जप तप साधन हेतु।
व्यथा जहाँ बनना वहाँ, मानव-सेवा केतु॥०८७१।

भटक गया, देते उसे, पथ भी नहिं दुत्कार।
सो भटके को दीजिये, सद्मति प्यार सँवार॥०८७२॥

रहना बचे अयुक्त से, मात्र नहीं पर्याप्त।
सद्भावों से भी जुड़ें, तभी युक्त हो प्राप्त॥०८७३॥

निठुर न हो, सो स्वार्थ का, मात्र एक उपचार।
सद्विचार हों कर्म में, पर-प्रति भाव उदार॥०८७४॥

कर्मों में सत्-निष्ठता, हो पौरुष भरपूर।
सम्भव सद्युग को करे, तब, निश्चय ध्रुव शूर॥०८७५॥

सच्चा धर्म सहायता, सेवा पर उपकार।
उर-आहति[१] पर-पीड़ना, है अधर्म का सार॥०८७६॥

धैर्य शान्ति विद्या क्षमा, धर्म हस्त, बिन वाद।
सत्य दान शुचिता दया, गहें, धर्म के पाद॥०८७७॥

मेधा-त्वरित प्रवीणता, विधिक-कर्म अस्तेय।
निर्णय घर्षण विज्ञता, धरम बिना परिमेय[२]॥०८७८॥

डींग घमण्ड दिखावना, बढ़ा सकें नहिं मान।
परहित करने से बने, पर नर पूज्य महान॥०८७९॥

---

१. आहति-वध, आघात; २. परिमेय-सीमित हैं।

हट जाते ही स्वार्थ के, मन बचता क़ल्याण।
करने लगता प्रार्थना, सुखमय हों सब प्राण॥०८८०॥

सुप्ति[१] सुरति[२] भय भूख में, नर पशु एक समान।
सो सद् बन, सद् सोच ही, दे नर की पहिचान॥०८८१॥

निरहंकृतता नम्रता, सहनशीलता न्याय।
समाविष्ट हो शिष्टता, तब नर मनुज कहाय॥०८८२॥

हारे थके निराश का, बढ़ा मनोबल मान।
इससे बढ़कर विश्व में, नहिं कोई अनुदान॥०८८३॥

निज रुचि इच्छा मान्यता, औरों पर मत लाद।
हो उदार पर-स्वार्थ पर, तब सब मिटें विवाद॥०८८४॥

खोजे विविध प्रपञ्च में, निज-सुख नित्य पुमान्।
करे न हित पर, आर्त का, जिसमें सुख विदमान॥०८८५॥

रहे शान्ति उस चित्त में, करे न्याय से काम।
सो कर, दे जो सर्वदा, सर्व-हिती परिणाम॥०८८६॥

बहुत कठिन है जानना, पर-विचार पर-भाव।
अपना शक्य सुधार, सो, सुधरें, परख स्वभाव॥०८८७॥

कितनों के सहयोग से, हम जो भी हैं आज।
सो कर, भाव कृतज्ञ से, रख सत्-मन, पर-काज॥०८८८॥

---

१. सुप्ति-नींद; २. सुरति-मैथुन; ३. निरहंकृतता-अहंकार रहितता।

रह सदैव पितु मात के, ऋण प्रति परम कृतज्ञ।
सो नित निज नत-भाव के, उनें भेंट कर यज्ञ[१]॥०८८९॥

पर-हितेच्छु ही-वृत्तियाँ, सेवा सुमन सहेज।
सहज आत्म-कल्याण का, पायें तब पग-तेज॥०८९०॥

क्षमताएँ सञ्जीवनी, हों, गढ़ अस चित बान।
जिन सँग-पा, उल्लास से, भरें मानवी प्रान॥०८९१॥

पर सेवा सहयोग में, निहित अपनपन, बाँट।
यह कृत सके समाज से, भेद-भाव तम छाँट॥०८९२॥

गोप्य रूप से ही करें, यदि करना सहयोग।
हो अन्तर-आनन्द का, तब चन्दन संयोग॥०८९३॥

विकसित कर सद्भावना, सबका हो कल्याण।
मन उत्साहित, नन्द से, फुल्ल रहे तब प्राण॥०८९४॥

जीते जो परमार्थ में, वे नर जीवन-मुक्त।
स्वहित स्वार्थ जो जी रहे, वही जगत्-गति युक्त॥०८९५॥

सद्गुण का यश छोड़ता, औरों के उर छाप।
सहज शान्त सो जी सके, कर नर कभी न पाप॥०८९६॥

जीवन का उपयोग हो, नर-गरिमा अनुरूप।
इससे नहिं विभु वन्द का, सार्थक कोउ स्वरूप॥०८९७॥

---

१. यज्ञ-अनुष्ठान।

सामाजिक सम्बुद्धि[1]

सुख दुख की अनुभूतियाँ, नहीं, परस्पर मेल।
सामाजिकता खो गई, स्वारथ हुए अझेल॥०८९८॥

जात पाँत छोटे बड़े, स्वार्थ-जन्य सब जाल।
न तु नर सम, सब भाँति हैं, भ्रात नात सो पाल॥०८९९॥

जब छोटा होने लगे, सिमट नेह का तार।
सजग! छिन्न तब हो, बँटे, छोटा भी परिवार॥०९००॥

दुष्कर्मों से है दुखी, लख प्रत्येक पुमान्।
सो कर, बरत सुकर्म से, सुखद सुहाग[2] विधान[3]॥०९०१॥

लख चौरासी यौनियाँ, नग नद पेड़ पठार।
सृष्टि, सुरभि सौन्दर्य से, किसने भरी विचार!॥०९०२॥

सञ्चय शुभ नहिं, सो करें, उसका सद्-उपयोग।
भर भर झोली दें उनें, जो अभाव में लोग॥०९०३॥

तन से मन से सेविये, दीन निबल निरुपाय।
गुप्त हाथ से कीजिये, माँगे बिना, सहाय॥०९०४॥

नर-कलिका हो जन्म से, सुन्दर-मन गुणवान्।
आह! विषी जग-कर्म से, ले वह पतित रुझान॥०९०५॥

---

१. सम्बुद्धि-ज्ञान; २. सुहाग-सौभाग्य; २. विधान-निर्माण।

प्रौढ़ चलें उस पन्थ, दें, बालक को जो सीख।
धरा स्वर्ग तब हो सके, विकस मानवी दीख॥०९०६॥

नहिं रुचिकर अपने लिये, उसका जो व्यवहार।
वही, नहीं अन साथ में, कर, है यह अपचार॥०९०७॥

जीवन यदि प्रत्येक का, मात्र एक संयोग।
तब मिल अस करते रहें, सुखी रहें सब लोग॥०९०८॥

हुआ न धन ऐश्वर्य से, कोई श्रेष्ठ महान्।
पर सेवा सहयोग, दे, भलइ, युगों जग-मान॥०९०९॥

धन अर्जन अति लालसा, यात्रा इक इतिहीन।
तब उपयोग[1] अनीति के, नर से मति लें छीन॥०९१०॥

मनुज उच्च, पद से नहीं, गुण से बने महान्।
शिखर बैठ जस हो नहीं, कौआ गरुड़ समान॥०९११॥

दायित्वों से वे बचें, रखें आत्मबल थोर।
पर दे घन संघर्ष को, दृढ़-संकल्प झिंझोर॥०९१२॥

जिए सरल, संकल्प से, दूजों हेतु उदार।
सभ्य वही जो पालता, नियम-निष्ठि अविकार॥०९१३॥

जो समाज को स्वच्छता, सब-सह दें दिन-रात।
उन नर देवों से रखें, पूज्य, हृदय से नात॥०९१४॥

---

१. उपयोग-व्यवहार।

समय पुरातन में चुनें, भिन्न भिन्न व्यवसाय।
वही जातियाँ बन गये, कालचक्र में हाय॥०९१५॥

हित हित किये समाज के, जिनने जो भी काम।
वह उनकी पहिचान को, स्वतः हुए उपनाम॥०९१६॥

इस समाज निर्माण में, जुटा सभी का स्वेद।
समझा पर छल-बुद्धि ने, श्रम को नीचा, खेद॥०९१७॥

भेद जताती जातियाँ, व्यवसायों के नाम।
न तु मानव सब पुत्र हैं, पिता सभी का राम॥०९१८॥

अनुभव कहते मोह की, गति है मूढ़ अतीव।
क्योंकि अकर्म विकर्म में, फँस हो चेत अजीव[१]॥०९१९॥

लोभ मोह का गर्त में, दे अवलम्ब धकेल।
कर्म मात्र सद्भाव के, रख, पर-दुख सो ठेल॥०९२०॥

सुन! अन्तस धिक्कारता, करने पर अपकार।
बरत प्रेम करुणा सदा, कहे पुकार पुकार॥०९२१॥

बरत धर्म, धन काम में, मनुज पूर्णता पाय।
पर अधर्म उपयोग से, बन्धन में बँध जाय॥०९२२॥

गोत्र वर्ण नर जातियाँ, केंचुल-साँप समान।
अहम् अन्ध या दीन हो, चित-धर इनें पुमान्॥०९२३॥

---

१. अजीव-मृत।

करें मान दायित्व का, निज कर्तव्य निबाह।
न तु हेलन दायित्व का, दे जीवन भर दाह।।०९२४।।

करें अधिकतम ज्ञान का, जग-शुभ में उपयोग।
न तु जनता[1] मन में पड़ा, कुण्ठित सिट्टी[2] रोग।।०९२५।।

कर्तव्यों से भागना, निज, समाज अपराध।
भर निराश से खिन्नता, फिर न सध सके साध।।०९२६।।

औंधे मुँह गिरता रहे, निष्क्रिय पर-आधीन।
विकसें निज आवश्य की, सो नित नींव नवीन।।०९२७।।

आश्रित नहिं जड़ पा सके, नहिं विकास को थान।
अन की सीमित ही मिले, दया कृपा, रख ध्यान।।०९२८।।

रुचि बढ़ती जब भोग में, हो प्रधान धन-लाल।
मानव मूल्य समाज से, दे तब अनय निकाल।।०९२९।।

लगतीं रीति धकेलने, जब विनाश की ओर।
उगे असह जन-क्षोभ से, तब शुभ-पग की भोर।।०९३०।।

नम्र अकिञ्चन सा रहे, हो भी यदि धनवान्।
कर तब सके उदार हो, उर जग-मंगल दान।।०९३१।।

मनुज वृत्ति धन काम में, रखे योजना चाह।
लगे जुटाने चित्त में, सो वह अवगुण-ग्राह[3]।।०९३२।।

---

१. जनता-जन्म देता है; २. सिट्टी-वाचलता; ३. ग्राह-मगर, घड़ियाल।

मनुज स्वयम् पर्याप्त है, देने को सत्-साथ।
खड़े क्योंकि होने लगें, साथ अगिन तब हाथ।।०९३३।।

है सहायता दीन की, जितनी कष्ट निवार।
उतना अनय अनीति से, पर-रक्षा उपकार।।०९३४।।

करें न सहें अनीति को, कर उन्मूलन रोध।
ला यह सके समाज में, नीति, प्रेम का बोध।।०९३५।।

उत्पीड़न संसार में, क्लीव-सहन की दैन।
पर विरोध करते हटे, अनय-जन्य यह रैन।।०९३६।।

करें बुद्धि से, नीति से, भले कहें अन, क्लीव।
अस कर पड़ने से रुकें, अगिन अशुभ भवि नीव।।०९३७।।

जीवन, गरिमा का रचें, दूरदृष्टि सद् रीत।
समझ आपसी-प्रीत की, तब बढ़ बने विनीत।।०९३८।।

कृष्ण कुचैला पाद को, धोये अँसुवन धार।
शुभ समाज नर का बने, सजग! सदा सत्कार।।०९३९।।

सीमित अपने में भले, रह, पर कर सहयोग।
तब तव, थिति आवश्य में, साथ दे सकें लोग।।०९४०।।

जीवन लक्ष्य विहीन हो, उदासीन दयनीय।
तब दे, उसे उबारना, लक्ष्य कोउ कमनीय।।०९४१।।

जीर्ण अशक्त विपन्न को, करना पावन प्रीति।
सेवा-सत्-सहयोग ही, सुखानन्द की रीति॥०९४२॥

धन को सब कुछ मानना, देता लिप्सा राग।
इससे मन की शान्ति के, सारे हटें सुभाग॥०९४३॥

अर्थार्जन में धर्म हो, मोक्ष हेतु हो काम।
युक्ति यही पुरुषार्थ की, दे जीवन अभिराम॥०९४४॥

धर्म मोक्ष ही स्रोत हैं, जो दें नर को सात[१]।
अर्थ काम से ही रखे, पर हा! मन निज नात॥०९४५।

होने न दे कुरेदना, कभी घाव को ठीक।
भूल बाद तस भूल के, दें कृत अघ की लीक[२]॥०९४६॥

इस पल वह कुछ और है, उस पल था कुछ और।
भाषण भले-पवित्र का, करे, न चढ़ उस पौर॥०९४७॥

पर-सेवा में स्वयम् की, सेवा करते आप।
रहता रूप अरूप में, क्योंकि सत्त्व इक व्याप॥०९४८॥

सद्कर्मों की शृंखला, की नम-उर से प्राप्त।
देती सतत् पुनीतता, निष्ठा चरित उदात्त॥०९४९॥

सुमन सुकर्मी का रहे, चित प्रशान्त बिन आग।
सो न पराहित सोच के, रख कलंक में राग॥०९५०॥

---

१. सात-आनन्द, प्रसन्नता, २. लीक-दाग, कलंक।

आवश्यकता भोग में, बढ़ जब होती मूर्त।
सत्-मनता[१] को दे हटा, आ चरित्र तब धूर्त॥०९५१॥

समझे मनुज-स्वभाव को, मन पर हो अधिकार।
पशुपन का उसमें रहे, बहिष्कार प्रतिकार॥०९५२॥

जब लौं सेवा त्याग का, निर्मित न हो स्वभाव।
अहम्-युक्त हों कामना, भद्र न हो बरताव॥०९५३॥

आवश्यकता घोर में, उसकी बनना ढाल।
दुख दारिद से हो सके, तब जग छूट निहाल॥०९५४॥

मात्र निहित, उपदेश की, सीखों पर दें ध्यान।
क्योंकि झूठ छल ढोंग का, होता शेष बखान॥०९५५॥

दुखदा है, अनुकूल से, मोहासक्ति अतीव।
प्रतिकूलित से जूझ में, पर बनना सुग्रीव॥०९५६॥

सच ही है नहिं फोड़ता, चना अकेला भाड़।
मिल जुल कर सहयोग से, पर अग[२] सकें उखाड़॥०९५७॥

हितकर औरों का बने, दे[३] मुद उनको मात्र।
बन कोई तब ही सके, पर आदर का पात्र॥०९५८॥

जो चिन्तन व्यवहार में, सेवक, रहे उदार।
वह सामाजिक मान में, रहे शिखर उत्तार[४]॥०९५९॥

---

१. सत्-मनता-सत्यता, ईमानदारी; २. अग-पहाड़; ३. दे-देकर;
४. उत्तार-श्रेष्ठ, औरों से बढ़ जाने वाला।

भ्रष्ट विचार प्रवेश से, मन घटता औचित्य।
तब फैले विष पाप का, जन समाज में नित्य॥०९६०॥

कुण्ठित हो सहकारिता, यदि स्वारथ संकीर्ण।
जन जन को करने लगे, तब चित-असद् विदीर्ण॥०९६१॥

अनुशासन स्वीकारता, प्रभु का, सभी समान।
पर-हा! तन-विश्वास में, रचे भेद नर ज्ञान॥०९६२॥

निज धन साधन का करें, सेवा में उपयोग।
अन्य करें न तु दोउ का, पैशाचिक उपभोग॥०९६३॥

जी माली की भाँति ही, जो पोषे उद्यान।
करते जिस, श्रम-स्वेद का, विटप सरोज बखान॥०९६४॥

प्रेम सगर[१] उर ले करें, जीवन यापन आप।
जग में तव मन प्रेम से, प्रेम सके तब व्याप॥०९६५॥

कितना लघुक महान है, व्यक्ति, परख है एक।
अवर[२] हेतु क्या सोचता, करता रहा कितेक॥०९६६॥

दुराचार दुर्गन्ध का, दुख दे सदा समीप।
सदाचार के लेप से, सो रख, तन मन लीप[३]॥०९६७॥

अहम् कला निज ज्ञान का, नित ढूँढे पर दोस[४]।
गगन गिद्ध ज्यों टोहता, सड़ी लोथ[५] सौ कोस॥०९६८॥

---

१. सगर-सागर; २. अवर-और, दूसरे; ३. लीप-लेपन करना, पोतना; ४. दोस-दोष; ५. लोथ-शव, मृतक देह।

मृतक हुई सम्वेदना, हियरा धुर पाषाण।
भौतिकता के लोभ में, क्योंकि रहें जुट प्राण॥०९६९॥

सत्साहस से पालना, स्वाभिमान सम्मान।
गरिमा अक्षुण ही रहे, सो बन अस पहिचान॥०९७०॥

देव-पुरुष सन्सार में, हरते पीर उदास।
व्यय! उपकृति[१] परमार्थ में, जो भी हो सो पास॥०९७१॥

उपकारी को भी करे, अपमानित, दे त्रास।
अपने ही सौभाग्य का, अस नर करे विनास॥०९७२॥

सजग कर्म में हो, नहीं, बरत थोड़ भी खोट।
आत्मा रूपी ईश को, लगे क्योंकि घन चोट॥०९७३॥

वैभव श्री समृद्धि का, पुण्य, मात्र आधार।
सुख, सुकर्म सद्भाव में, सम्भव, सो चित धार॥०९७४॥

कलुष कर्म, ज्यों स्वयम् से, किया कपट बरताव।
सेवा शुचि माधुर्य का, सो रख सदा स्वभाव॥०९७५॥

घट कटु-कण्ट स्वभाव के, प्रीत जगत्-अनुमन्य।
द्वेष दम्भ, अवसाद हैं, तज, अपना सौजन्य॥०९७६॥

स्नेह और सौजन्य की, भाषा है, मुसकान।
सहनशील बन, रोष का, सो मन हटा भवान्॥०९७७॥

---

१. उपकृति-उपकार, भलाई।

नर में भर सेवा दया, भेजे दीन-दयाल।
सजग! जगत् शठ दे बना, सो रख हृदय सँभाल॥०९७८॥

तव प्रति उसके हीय में, है यदि दृढ़-थित द्वेष।
मात्र हटा उसको सके, सौम्य मित्रवत् वेष[१]॥०९७९॥

जो रिपु से भी मित्र सा, करता है व्यवहार।
अरि उसका मिलता नहीं, ढूँढे भी संसार॥०९८०॥

सिमटे संस्कृति सुन्दरम्, पसरे शोषण पाश।
तब जन जन ही में भरें, सद्गुण-रूप प्रकाश॥०९८१॥

घर्षण से शिल[२], आग से, कनक पाव चमकान।
तस भिड़ मनुज, विरुद्ध से, बनता निखर महान॥०९८२॥

भले बटोरी सम्पदा, रख सत् का व्यापार।
ली न कभी उपयोग में, तब वह कूड़[३] असार॥०९८३॥

भय दे, भुजबल हो सके, नहिं पर-मन में हीर।
टसमस नहिं आदर्श से, हो, है वह सत्-वीर॥०९८४॥

दीप्त और भी हों, लिया, यदि निज चित्त सुधार।
मुख नहिं, सो व्यवहार में, निज उपदेश उतार॥०९८५॥

सेवा रख निष्काम से, दे सन्तोषानन्द।
किसी स्वार्थ से है बड़ा, मिलना यह मकरन्द॥०९८६॥

---

१. वेष-कर्म; २. शिल-शिला, पत्थर; ३. कूड़-कूड़ा।

सम्मुख हैं संसार के, कर्मों के परिणाम।
मनुज जन्म के अर्थ को, समझ करें सो काम॥९८७॥

स्वयम् सुपथ चल और को, दे प्रेरण सद्-बान।
वही जगत् में वस्तुतः, भाग्यवान् विद्वान्॥९८८॥

दुख देने में हो नहीं, गौरव कभी उरूज्य[१]।
करने में दुख दूर हो, किन्तु महा नर पूज्य॥९८९॥

निज हित नहिं, शिशु हेतु है, जैसे माँ का दूध।
तस व्यय पर-शुभ में करें, कर्म मात्र यह सूध[२]॥०९९०॥

गौरव बल सामर्थ्य, है, सद्-धी जिनके पास।
पर-सहाय बन वे सकें, हर सकते पर-गास॥०९९१॥

विश्व-वाटिका में खिलें, मनहर पुहुप-सुवास।
शक्य, मात्र गुरुजन करें, जब सुकर्म सद्-यास॥०९९२॥

करके पर सहयोग ही, मिलता पर सहयोग।
पर सम्भव, सहयोग से, समझ! सभी उद्योग॥०९९३॥

कर, जन जन में जो भरे, हर्ष, वही उत्कृष्ट।
धारण किन्तु अनीति का, कभी श्रेष्ठ नहिं शिष्ट॥०९९४॥

रख सहयोग सहिष्णुता, कर अपनत्व विकास।
गले लगा सबको, बनें, तब जग-धन्य समास॥०९९५॥

---

१. उरूज्य-ऊपर उठने योग्य; २. सूध-शुद्ध।

जीवन-पथ की चेत

प्रेम दृष्टि में दीजिये, कण्ठ दीजिये सौम्य[1]।
विनय छलकता हीय में, बन्ध हटे तब भौम्य॥०९९६॥

जगत् समय-पाथोधि[2] में, है इक नाव समान।
रह रक्षित इसमें सके, संजग! सुगुण-चितवान्॥०९९७॥

दुर्जन से क्या माँगना, कृपा क्षमा का धान[3]।
करुण-भाव को, ईश दें, अभय सर्व-निधि दान।०९९८॥

मात्र पिता-माँ ही करें, पीड़ा का आभास।
सो अन्यत्र न खोलना, व्यथा, मिले उपहास॥०९९९॥

निश्चित कर लें लब्धि का, मात्र पवित हो स्रोत।
क्योंकि स्रोत की तुच्छता, दे सदैव दुख भोत[4]॥१०००॥

मान असम्भव छोड़ना, सदा बनाता क्लीव।
दृढ़-इच्छा व्रत से बनें, सो मन-शक्त सजीव॥१००१॥

स्वहित हेतु का सर्वदा, है संसारी-मेल।
सो हो प्रत्युत आस में, दुखी न क्रोध उड़ेल॥१००२॥

भय दुख शोक असाध्यता, पीड़ा बन्धन रोग।
बोये दुर्गुण-पेड़ के, होते हैं फल-भोग॥१००३॥

---

१. सौम्य-प्रिय, रमणीक, मृदुल, कोमल; २. पाथोधि-समुद्र; ३. धान-पोषण; ४. भोत-बहुत।

दुर्बल दीन निरीह को, न दे पीर, अभिमान!।
होगा उसकी आह से, न तु तव सर्व नसान॥१००४॥

भौतिक-सुख के स्वार्थ में, जुट, सुख पाव न एक।
पर-हित में निज शक्तियाँ, सो रे लगा विवेक!॥१००५॥

संगति सन्त-स्वभाव की, साध, सर्वदा साध।
दुस्संगति से शील भी, क्योंकि बनें अपराध॥१००६॥

रोगी को ही चाहिये, औषधि वैद्य सुवात[१]।
तस जब घृणित अधर्म हो, हट, बन-कृष्ण, निपात॥१००७॥

दुर्गुण-चर्चा और की, बुरा स्वाद-सम्वाद।
वैचारिकी प्रदूषिता, निश्चय तब दे साद॥१००८॥

जीवन चलता है सखे, रखे समेटे हाथ।
मन की चञ्चलता रुके[२], पावे सौख्य अकाथ॥१००९॥

मन अस्थिर की मानना, जीवन का अवसान।
मात्र आत्म-आदेश का, सो पालन कर मान॥१०१०॥

काटे जीभ कटार सी, उगले विष जस व्याल।
सरस वचन से, चित्त से, पर दे शूल निकाल॥१०११॥

देती स्वास्थ्य प्रसन्नता, देती जीवन काल।
संयम रख सो जीभ के, वचन स्वाद के आल[३]॥१०१२॥

---

१. सुवात-स्वच्छ वायु; २. रुके-रोकता है; ३. आल-झञ्झट।

टेंक, समझ सद्-दृष्टि से, मन के पैर सँभाल।
उलझा लेते अन्यथा, जग प्रपञ्च के जाल॥१०१३॥

बढ़ने की आशा करें, पर आश्रय में हीन।
जब विभु ने सामर्थ्य दी, धर डग स्वयम् नवीन॥१०१४॥

नीचे जा उठना नहीं, होता सरल सुजान।
सो उठ ऊपर सर्वदा, पग पग यथा विधान॥१०१५॥

भ्रष्ट उपायों से भरा, यदि सम्पद् आंगार।
अवसि पीढ़ियाँ, स्वयम् भी, पावें तब संहार॥१०१६॥

श्रम, सत्-मन, से लब्ध भी, है यदि अर्थ अपार।
तृषा अहम् दे स्वयम् को, कुल को भ्रष्ट विचार॥१०१७॥

सबसे प्रिय व्यवहार हो, सबसे प्यारे बोल।
समझें! बन जिससे सके, जग में मनुज अमोल॥१०१८॥

प्रेम न्याय सत् मान हैं, सबके मन को मीठ।
अतः सरस वाणी रखें, नयमय दयमय दीठ॥१०१९॥

जीभ स्वचालित, सो रखें, समझ बुद्धि के साथ।
अभल लगे न तु हाँकने, पड़ मिथु-मन के हाथ॥१०२०॥

अहम् क्रोध की काम की, हो सकती वश आग।
लेकिन अवश अतृप्ति का, सजग! रहे मम-राग॥१०२१॥

तज, यदि अर्जन स्रोत हो, अनाचार अन्याय।
क्योंकि सदा, भय में रखे, संकट सिर मँडराय॥१०२२॥

भौतिक-भड़क विलासिता, धन कुबान पर्याय।
सो जो इसकी लिप्ति[१] में, निश्चित गर्त समाय॥१०२३॥

धनपतिता धनहीनता, द्वा में तड़पन क्लेश।
फिर भी तजें न शीलता[२], डिगें न सत्-मन[३] लेश॥१०२४॥

प्राप सदैव अनीति का, है दूषित धन-धान्य।
भले मिला आतिथ्य में, भी दे मनस् अमान्य॥१०२५॥

हुआ विकारी झूठ से, नैसर्गिक नर रूप।
दुर्विचार अघ बन रहे, तब मन चिन्ता कूप॥१०२६॥

करें निरादर मुख्य[४] का, जो घर राष्ट्र समाज।
वे विनाश को प्राप हों, अवसि, भले नहिं आज॥१०२७॥

हैं विवेक वैराग्य ही, नौका की पतवार।
सहज सहारे दोउ के, भव-सागर हो पार॥१०२८॥

करतूतें संसार की, हैं अति, सजग! विचित्र।
कर्म-काण्ड अपरोक्ष में, पर हों गिरे चरित्र॥१०२९॥

कठिनाई पर जीत के, शस्त्र सभी के पास।
इक जीवट संघर्ष की, एक आत्म-विश्वास॥१०३०॥

---

१. लिप्ति-लगाव; २. शीलता-शुद्ध चरित्र; ३. सत्-मन-ईमान;
४. मुख्य-मुखिया।

सह ले ज्यों छैनी सहे, हानि अयश अपमान।
योग शान्ति आनन्द का, यही प्रगति सोपान॥१०३१॥

मोह नहीं, जग नात में, यथाशक्य रख मेल।
नहीं विपद् विपरीतता, दे तब सकें धकेल॥१०३२॥

स्वहित हेतु होना नहीं, अपराधी खल चोर।
जीवन-भर सच में रहे, तब उल्लास किशोर॥१०३३॥

निज विचार धी सर्जना, सोच विधायक[१] ज्ञान।
निर्णय-शक्ति को तेज दें, परख-शक्ति को मान॥१०३४॥

मानव पग पग जो धरे, निज गौरव का मान।
जगत् यह बन जायेगा, स्वयम् स्वर्ग-द्युति थान॥१०३५॥

गुण-विशेष द्रव जो भरा, करे सुनिश्चित मोल।
आँक गुणों से, सो नहीं, मोल आँक, लख खोल॥१०३६॥

अलंकार तन रूप से, मूल्य, न नर का माप।
कर्म-भाव-गुण से करें, सो नर अंकन आप॥१०३७॥

वैभव का करना नहीं, बहुत दिखाव प्रचार।
न तु कर बढ़ छल लूट के, करने लगें प्रहार॥१०३८॥

खोलें अपने गोप्य को, दे दें अपना भेद।
धोखा खाते सर्वदा, जीते संकट खेद॥१०३९॥

---

१. विधायक-रचनात्मक।

कर नहिं भूले भी बुरा, सद् ही कर प्रत्येक।
अवसि क्योंकि फल मिल रहे, युग हों भले अनेक॥१०४०॥

दोषी है पर और के, सिर मढ़ता आरोप।
खो अस जन-विश्वास दे, उभरे उस प्रति कोप[1]॥१०४१॥

कह सुन अवगुण और के, घट सत्, बढ़ते दोष।
चित में लग आकुल रखे, तब खलता की ओस[2]॥१०४२॥

क्या कब क्यों कैसे कहाँ, मन निर्णय का तन्त्र।
सो शुभ जीवन हेतु दें, मन को साधक मन्त्र॥१०४३॥

सृष्टि सन्तुलन हेतु हैं, सबके अपने अर्थ।
जड़ जीवन को हानि दें, न ही नाश, सो व्यर्थ॥१०४४॥

अगिन छेद का चालना, बनने न दें स्वभाव।
न तु सत् बाहर कर, सँजो, लेगा पतित उपाव॥१०४५॥

चञ्चल होना वृत्ति है, होने दो जो होय।
पर नहिं चित-सहयोग को, दें तन, न तु सुख खोय॥१०४६॥

यद्यपि इन्द्रिय-तुष्टि से, सुख पाते मन देह।
पर अति-तुष्टि, अतृप्ति दे, इसमें नहिं सन्देह॥१०४७॥

छूट स्वमन को दें भले, दौड़ भाग की आप।
पर शरीर सहयोग को, देना नहीं कदाप॥१०४८॥

---

१. कोप-रोष; २. ओस-दाह, जलन।

अनुशासन में ला सका, जो नहिं मन को नाथ।
वह व्यसनों की दासता, भोगे दैन्य अकाथ॥१०४९॥

अधि, आवश्यक से नहीं, धन को सुमति बटोर।
न तु अतिशय की लालसा, रखे अशम, चित रोर॥१०५०॥

तृषा वासना को मिला, अवसर, गर्त गिराय।
वश में रखना, क्योंकि है, मन अवगुण की धाय॥१०५१॥

राग द्वेष के द्वन्द से, जने अन्ध-भ्रम मोह।
तब पथ चुन तम का सके, जीवन हेतु बटोह॥१०५२॥

बहकर भाव-उमंग में, किया, मात्र दे हान।
पर रख धैर्य, विवेक की, सोच बने वरदान॥१०५३॥

बिरथा का भय, कल्पना, जला न अपना रक्त।
रख यथार्थ की दृष्टि में, वरन् सोच, कर व्यक्त॥१०५४॥

रोना मत रो, घाव भी, मन उर के रख ढाप।
न तु बन शुभ-चिन्तक बुरे, और अधिक दें ताप॥१०५५॥

जिसने जैसा भी किया, उस पर मत कर सोच।
चित तव उन्नत हो सके, पर उसका तब पोच॥१०५६॥

अगुणों को दें इन्द्रियाँ, पता कि चित्त अशक्त।
अगुण आ बसें, चित्त हो, सो जब इन्द्रिय-सक्त[१]॥१०५७॥

---

१. सक्त-आसक्त।

नींव रखें थिर चित्त से, अपने श्रम की आस।
दया भरोसे और के, नहिं निज शक्य विकास॥१०५८॥

रोग क्लेश भय भ्रष्टता, व्यसनजनक, दे शाप।
अति सञ्चय अच्छा नहीं, सदा बढ़े सन्ताप॥१०५९॥

दैहिक सुख की लालसा, है दुर्बल मन रोग।
भोग क्योंकि तन भोगते, तन नहिं भोगे भोग॥१०६०॥

काम मोह मद लालसा, क्रोध ईर्ष्य के छेद।
करे स्व-जीवन नाव में, सो पावे नर खेद॥१०६१॥

जब इन्द्रिय-मन थामता, अपने हाथों बाग।
तब चल कुपथ, विनाश सो, दे जीवन को आग॥१०६२॥

अन नहिं, होतीं स्वयम् को, सर्व दशायें ज्ञात।
स्वयम् सहज सुलझा सकें, सो निज झञ्झावात॥१०६३॥

अवगुण दुख भारी जनें, इन्द्रिय सुख के राग।
सो मन को सीधा कहें, करे न भागम-भाग॥१०६४॥

बुरा करें सोचें बुरा, लेश न मन सत्वान्।
वन्शज भी अस गेह के, बन न सकें गुणवान्॥१०६५॥

जोय ढूँढता ही रहें, निन्द्य पराये दोष।
बनता उस चित सूप भी, दोषी अथिर अतोष॥१०६६॥

भूलें कर ही बैठता, सजग न हो जब ज्ञान।
दुष्ट क्रूर अपराध में, पर रत रहे स-ध्यान॥१०६७॥

सोच परिष्कृत, शान्ति दे, परमानन्द विहास[1]।
पर प्रति दूषित सोच दे, पर मन दूषण वास॥१०६८॥

चार दिवस की चाँदनी, फेर अँधेरी रात।
थोड़ा ही, अपराध का, जीवन, पाव प्रभात॥१०६९॥

संशोधन करता नहीं, अपने अपकृत ढूँढ़।
निश्चित असफल ही रहे, जीवन ऐसा मूढ़॥१०७०॥

निन्दक का उपकार है, प्रकट करे तव खोट।
रख जीवन जिससे सकें, सुखद अनघ अनचोट॥१०७१॥

कर प्रयास नित धारता, सत्-स्वभाव सद्-ज्ञान।
लख कुटेव बिसरे, दिपें, सब हैं जिसे समान॥१०७२॥

अन्धकार अज्ञान का, जगत् वासना हाट।
मात्र शान्ति में जी सके, इनसे विज्ञ उचाट॥१०७३॥

दुख देने वाला नहीं, करे कभी सुख भोग।
पर अनुकम्पा शान्ति को, पाते सज्जन लोग॥१०७४॥

लक्ष्य सहज सुख-शान्ति का, किया जा सके प्राप।
सदाचार पथ धर्म का, चुनें चलें यदि आप॥१०७५॥

१. विहास-मुसकान।

मित्र भाव बरते करे, न्यायजन्य व्यवहार।
पा सकता नर और से, तब ही सम उपचार॥१०७६॥

हरता नन्द-अजस्त्र को, मैं का क्रूर विलास।
सजग! शान्ति फटके नहीं, तीव्र निदय के पास॥१०७७॥

सरल हड़पना छीनना, निर्बल मुख से कौर।
पर निश्चित विधि ने किया, सजग! कर्म-फल ठौर॥१०७८॥

ऐन्द्रिक सुख के स्वार्थ में, बने बवण्डर चाह।
तब ज्वल सजग! अतृप्ति की, दे उन्माद अथाह॥१०७९॥

काम वासना लाल का, थाम झञ्झ अतिवान्।
जीवन न तु हो डोलता, टूटे पात समान॥१०८०॥

सदा कामना-कीच से, बच, दे पाप अतीव।
क्योंकि सर्व मन-शंक्ति हों, तब अपंग निर्जीव॥१०८१॥

तन छवि में शृंगार में, होते नहिं विदमान।
सत्य शिवम् सौन्दर्य हैं, मात्र चित्त परिधान॥१०८२॥

लाख बुरा चाहे, करे, तो भी रहना शान्त।
अभल अन्त, अथ नीक का, यह परमार्थ नितान्त॥१०८३॥

अच्छाई के साथ से, पावे श्री यश माथ।
पर हों प्राप विनाश को, लें दें जो अघ-साथ॥१०८४॥

आवश्यकता स्वयम् की, जितनी अधिक बढ़ाय।
वह उतना ही स्वयम् को, पर आधीन बनाय॥१०८५॥

क्या बखानना व्यर्थ में, खल का वैभव देख।
क्योंकि बुदबुदा सा बढ़े, हो भी शीघ्र अलेख[१]॥१०८६॥

अति सञ्चय में हो सके, पड़ें गँवाने प्राण।
मधुमाँ रेशम कीट हैं, इसके दुखद प्रमाण॥१०८७॥

मन मलीनता ज्यों घटे, बढ़ते बुद्धि विवेक।
दूरदर्शिता पुष्ट, हो, कर्म सत्य प्रत्येक॥१०८८॥

जस न किसी को कोकिला, कागा सम दे दाह।
सजग! मनदशा है बहे, जो बन करम प्रवाह॥१०८९॥

पाकर गुण सौन्दर्य को, अन्तः-भवन सँवार।
भाव कल्पना कामना, तब ले सद् आकार॥१०९०॥

सफल उस समय लौं नहीं, होता देश समाज।
आत्म-ज्ञान से हों नहीं, जब तक बोधित काज॥१०९१॥

है अस तम अज्ञान का, हरे सुसोच विवेक।
पावे तब नर दीनता, घेरें अगुण अनेक॥१०९२॥

भली-भाँति सोचें, करें, सदा धर्म अनुकूल।
धर्म क्योंकि रक्षा करे, भले दशा प्रतिकूल॥१०९३॥

---

१. अलेख-अदृश्य।

अवगुण ग्राही जनमनी[1], मन की वृत्ति समूल।
सो वश रखना सीखिये, जो जीवन प्रतिकूल॥१०९४॥

भले न निकले काग के, मुख से कोयल कूक।
पर सद्गुण पा, बुझ[2] सके, पापी की अघ-लूक॥१०९५॥

महिमामय, उत्थान के, होते सदा अधार।
सज्जनता के सो गढ़ें, प्रथम चित्त आचार॥१०९६॥

पर निन्दा कर, हाँकते, डींग, स्वयम् की क्रीत[3]।
आत्म-प्रशन्सा के सदा, ओछे गाते गीत॥१०९७॥

मात्र बोझ मन में भरा, इक सैद्धान्तिक ज्ञान।
पर तब सार्थ, प्रयोग में, आ जब हो वरदान॥१०९८॥

समरसता धी-न्याय में, ला न सके जो ज्ञान।
ऐसे अर्जन से भरा, मन ज्यों कूड़ेदान॥१०९९॥

कृत्य निरूपित[4] हो चुके, नैतिकता विपरीत।
तजें, कभी भी हो सके, न तु घातक परिणीत[5]॥११००॥

हों निष्ठा औदार्य से, परिपूरित आचार।
नर का अवसि महानता, बनती तब सिंगार॥११०१॥

दुख देने वाला नहीं, पा सकता सुख भोग।
वरन् शान्ति का पा सकें, सज्जन-कर्म सुयोग॥११०२॥

---

१. जनमनी-उत्पन्न करने की; २. बुझ-बुझा; ३. क्रीत-कीर्ति, यश; ४. निरूपण-स्पष्ट समझ में आ जाना; ५. परिणीत-पूरा किया हुआ।

है अभीष्ट सत्-साधना, नहिं बन जो दे नास।
पावन प्रीति प्रतीति से, सो सद् बो अभिलास॥११०३॥

कभी नहीं छवि मोहिनी, स्वाद सुगन्ध सुगान।
वरन् अर्थ सौन्दर्य का, मन-पावन गुणवान्॥११०४॥

उपयोगी है सम्पदा, तब जब पवित चरित्र।
अनाचार अभिमान में, जुटे अन्यथा मित्र॥११०५॥

सूखें क्रोधावेश में, मति विवेक के ताल।
घटे मित्रता, बढ़ उठे, सजग! विरोध-कराल[1]॥११०६॥

सांसारिक बहु-रूप से, झुके करे या घर्ष।
श्रेष्ठ घर्ष है, जो करे, पाव वही उत्कर्ष॥११०७॥

शक्त आत्म-बल धीरता, इच्छा-शक्ति अपार।
कार्य सफल करके रहें, अपने ही अनुसार॥११०८॥

दृढ़-व्रत जागृत संयमी, धनी-मनोबल जोय।
सफल मनोरथ हो, भले, निर्बल तन ही होय॥११०९॥

मनस् दृष्टि जागृत करें, श्रेष्ठ दिशा की ओर।
जीवन को उद्विग्नता, जो नहिं सके झिंझोर॥१११०॥

नहिं सोचें संसार में, दुख ही दुख है व्याप्त।
तृषा-त्याग से कर सकें, निश्चित थिर सुख प्राप्त॥११११॥

---

१. कराल-भयंकर।

अपकारी को सर्वदा, लगता सत्य कठोर।
पर है सत् व्यवहार में, सहज मृदुल शुभ घोर॥१११२॥

विपद् पड़े औचित्य से, विचलित होते लोग।
चिन्तक मननी का रहे, पर सत्-अटल नियोग[1]॥१११३॥

इच्छा का दौर्बल्य ही, दे भटकन में डाल।
दृढ़-संकल्पी लक्ष्य को, पर पाते तत्काल॥१११४॥

बीती ताहि बिसारिये, आगे की सुधि लेय।
न हो हानि अपमान से, उन्मन, मन्त्र प्रमेय[2]॥१११५॥

घिस देता चट्टान को, जल का सरल स्वभाव।
जिति तस सके सहिष्णुता, पीड़क, द्वेष दुराव॥१११६॥

हट षड्‌रिपु आकर्ष से, खोजे श्रेष्ठ अछेद।
विज्ञ वही कर जो सके, नित्यानित्य विभेद॥१११७॥

आते जब अनुभूति में, जग-सम्बन्ध असार।
जग-प्रति भाव-हटाव हो, जुड़ें सत्य-प्रति तार॥१११८॥

आपा सुखमय और हो, सारा सुखी समाज।
विश्व शान्ति सुख मन्त्र है, हो सद् चिन्तन काज॥१११९॥

होती नहिं अज्ञानता, काव्य ग्रन्थ पढ़ दूर।
पढ़ा बने व्यवहार, तो, हो अविज्ञ-चित सूर॥११२०॥

---

१. नियोग-उद्योग; २. प्रमेय-जिसका किसी प्रमाण द्वारा यथार्थ ज्ञान प्राप्त किया जाये।

दूर अँधेरा हो नहीं, दीपक का सुन नाम।
तस प्रयोग से ही बने, अनुभव, जीवन-भाम॥११२१॥

नहिं वर्णन धनवान् का, करे अधन उद्धार।
कर्म बिना फल चाहना, तस है मूर्ख विचार॥११२२॥

जीवन में अनिवार्य है, करना कर्माचार।
निज आवश्यक[१] भी नहीं, न तु पाती उपचार॥११२३॥

सजग! शिथिल पड़ती नहीं, कभी न होती शान्त।
तृष्णा जगती ही रहे, एक एक उपरान्त॥११२४॥

प्रतिकूलित से जूझ में, होना नहीं अधीर।
बढ़ भय चिन्त, न ले सकें, न तु निर्णय गम्भीर॥११२५॥

बुरा धैर्य खो बैठना, बुरा भाव अतिरेक।
पर भय चिन्ता शून्य हो[२], सुलझे क्या? प्रत्येक॥११२६॥

जस विचार रखता, गढ़े, वैसा मनुज स्वभाव।
ईश बन सके, ईश सा, सो रख सोच निभाव॥११२७॥

बढ़े रक्ति भय भ्रष्टता, गर्व प्रमाद विलास।
रहता व्यसन, कुचक्र में, उलझा धन का दास॥११२८॥

क्वचित् साधनों में रहे, मुद, उन प्रति श्रद्धालु।
रहते उसके नन्द में, नन्दित दीन-दयालु॥११२९॥

१आवश्यक-आवश्यकता; २. हो-होने पर, होकर।

निर्मित करने में कभी, श्रद्धा अरु विश्वास।
प्रथम परख श्रद्धेय के; चेष्टा शैली यास॥११३०॥

कल के सुख दुख भूल जा, कल की चिन्ता छोड़।
मात्र आज जी हर्ष में, कर सुकर्म जी-तोड़॥११३१॥

ध्रुव-थिर-मन एकाग्रता, दृढ़-व्रत को दें रूप।
पर आत्मिक निर्देश सा, बल नहिं कोउ अनूप॥११३२॥

प्रेम अहिन्सा सत्यता, शान्ति धर्म नहिं पास।
पद वैभव पाण्डित्य का, तब थोथा विश्वास॥११३३॥

विपद् पड़े को दें सदा, आशा का दिनमान।
साहस बढ़ तब पार हो, बन-स्वहेतु भगवान्॥११३४॥

जन जन में उल्लास का, ऐसा बन जलजात।
जोय हेय-मन स्वार्थ का, मिटा सके झँझवात॥११३५॥

लगन परिश्रम हाथ दो, हैं यदि नर के पास।
मार्ग रोक सकते नहीं, जग के अन्धड़ त्रास॥११३६॥

सद्‌मति धैर्य विवेक से, मिलती डगर नवीन।
घोर विगति में भी न हो, सो निराश दुखलीन॥११३७॥

स्वेद उपार्जित में बसे, सुख उमंग सन्तोष।
करे सुवासित आत्म को, जो हर्षे चित्[१]-घोष॥११३८॥

---

१. चित्-आत्मा।

लक्ष्य ओर बढ़ते रहें, बिन अशिष्ट संयोग।
पर अभद्र से, पर न हों, विचलित सज्जन लोग॥११३९॥

उलझी-थिति काठिन्य से, हो जितना भी, जूझ।
क्योंकि सुलझना दे, हटे, जूझ, विपद् अनबूझ[१]॥११४०॥

गिर गिर टूटे पंख भी, चढ़ता शलभ उचान।
तस साहस के शौर्य से, सुफल सभी अभियान॥११४१॥

अपनी गरिमा के लिये, जिसका सजग रुझान।
वही बने सत्साहसी, वही प्रतिष्ठावान्॥११४२॥

आवश्यक भर काम से, रखे मात्र सम्बन्ध।
उस सम्मुख नहिं आ सकें, संघर्षों के अन्ध॥११४३॥

श्रम की रोटी से गुँथे, मान शान्ति आनन्द।
अघ अर्जित से नीके हैं, अतः पात जड़ कन्द॥११४४॥

सुनियोजन संकल्प से, मिलते सफल पड़ाव।
असफलता हो हाथ सो, जब विचार बिखराव॥११४५॥

निज रुचि इच्छा मान्यता, कभी न अन पर लाद।
हो न तु परहित हेलना, प्रत्युत खड़े विवाद॥११४६॥

व्यर्थ समझ, घिर वाम में, जीवन से नहिं हार।
डर नहिं किसी हताश से, डट, कर उन संहार॥११४७॥

---

१. अनबूझ-जो समझ में न आये।

विधि-विधान आदर्श हों, पर सब तन्त्र निहीन[1]।
प्रजातन्त्र में सो रहें, भले भलाई दीन॥१२३७॥

नगर ग्राम से राष्ट्र लौं, जनहित सभी विभाग।
जनता तक पहुँचा रहे, सौ में दस ही भाग॥१२३८॥

लोकराज में देखिये, जो लाठी दमदार।
उसके लिये विधान भी, रहें मौन लाचार॥१२३९॥

लोकराज पशुराज है, जौन नुकीले सींग।
मनमानी उसकी चले, छीने झपटे मींग॥१२४०॥

जिस कर लाठी, भैंस का, उसका ही अधिकार।
इसीलिए जनराज में, बल की जय जयकार॥१२४१॥

ऊँचे सरकारी घड़े, जन-धन रहे डकार।
प्रजातन्त्र तू धन्य है, चुप सब रहा निहार॥१२४२॥

बड़ी मेज से भेंट में, बाधा होंय अनेक।
प्रथम निपटने ही पड़ें, नीचे के अतिरेक॥१२४३॥

न्याय मिले यदि देर में, न्याय मिले नहिं, जान।
थकें पीढ़ियाँ न्याय को, प्रजातन्त्र-पहिचान!॥१२४४॥

आफिस की बारीकियाँ, जाने भ्रष्टाचार।
अब तक नहिं जो शक्य था, देती घूस सुधार॥१२४५॥

---

१. निहीन-अधम।

सेवा कोई ही करे, बाकी चोर लवार।
दंगा हत्या लम्पटी, लूट नेतई कार॥१२४६॥

घूस कमीशन अपहरण, झूठ गबन व्यभिचार।
बहुत घिनौना हो गया, नेतइ का व्यापार॥१२४७॥

हथिया बैठें कुर्सियाँ, खादी लिपट फरेब।
इसी हेतु जनतन्त्र में, जन-लहु पान कुटेब॥१२४८॥

सच पर, जब सच को किया, गिरी चतुर्दिक गाज।
हा! विभत्स होगा अभी, कितना पतित समाज॥१२४९॥

रावण पुलिस कचैहरी, अहिरावण हाइडिल।
छुट बड़ कुर्सी में टिके, देखें दानव दिल॥१२५०॥

भला पुलिसिया भी नहीं, भला न नेता कोय।
न्याय प्रबन्धन के मुखों, जन लहु रहा समोय॥१२५१॥

सब सरकारी कुर्सियाँ, चूँसें खुल जन-खून।
नेता अधिकारी चढ़ा, भ्रष्टाचार जुनून॥१२५२॥

प्रजातन्त्र के हाथ में, जब से आया देश।
चपरासी तक हो गये, नेता सहित रमेश[१]॥१२५३॥

सरकारी दफ्तर चले, इक ही नियम कठोर।
ऊँची कुर्सी को खिला, नियमित-बँधा बटोर॥१२५४॥

---

१. रमेश-भगवान्, सबकुछ कर सकने वाला।

निपटें, रख थिर, बुद्धि से, आयें जब अतिचार।
मिलते इन-वैषम्य से, तब मंगल उपकार॥११६६॥

अबल दीन सबसे बड़ा, कायर ऊलजलूल[१]।
खोता साहस धीरता, तब भी जब अनुकूल॥११६७॥

क़भी नहीं दुख हानि से, होना व्यग्र उदास।
क्योंकि हटा ये अज्ञता, दें नय समझ विकास॥११६८॥

साहस जो खो बैठता, पाव न वह परिहार।
उससे बड़ा दिवालिया, सो नहिं या संसार॥११६९॥

सुगुणों को अपने न दें, जो पग पग व्यवहार।
आ ग्रसता या ढाँप ले, तब इक मात्र विकार॥११७०॥

मात्र आश अनुकूल की, सदा फले नहिं भ्रात।
रहना सो समभाव में, पाकर भी उद्घात[२]॥११७१॥

प्रामाणिक हो धीरता, श्रम निष्ठा पुरुषार्थ।
सफल लगन से हों, करें, साधन नहीं कृतार्थ॥११७२॥

व्यर्थ न आ आतंक में, यदि सम्मुख प्रतिकूल।
समाधान चित शीत से, मिलते, हटें त्रिशूल॥११७३॥

बिंधे लक्ष्य उस ओर का, जिधर वाण सन्धान।
साम्य अतः फल कर्म में, रख तब हो कल्यान॥११७४॥

---

१. ऊलजलूल-अनाड़ी; २. उद्घात-धक्का, आघात;

करें, विकस निज सूझ को, समाधान की खोज।
सर्व-विघ्न यह लाँघ, दे, सब प्रकार का ओज॥११७५॥

जीवन, स्वयम् विचार से, रचित, गतित क्रियमाण[१]।
अस विचार गह सो, बनें, पग पग जो सद्-त्राण॥११७६॥

एक निमिष का अन्श भी, व्यर्थ न करना नष्ट।
सत्य-शोध कर्तव्य से, वरन् सर्व हर कष्ट॥११७७॥

रहे मृत्यु उपरान्त भी, यश अपयश चिरकाल।
चुनें अमल सो साध की, जीवन डगर सँभाल॥११७८॥

जब उच्छृंखल वृत्तियाँ, हों सम्वेदनहीन।
मति हर, तब अन्याय में, ढूँढें सुख, रह लीन॥११७९॥

भूख, निरंकुश भोग की, मन की चञ्चल कूद।
मात्र हानि नहिं, वृत्ति में, भरतीं हिन्सा सूद[२]॥११८०॥

नहीं निरंकुश, व्यक्ति[३] में, इन्द्रिय मन की भाग।
लोभ द्वेष मैं काम की, उसमें रहे न आग॥११८१॥

झेले आत्म-प्रताड़ की, पग पग कायर मार।
किन्तु साहसी शौर्य से, जूझ मरे इक बार॥११८२॥

नहिं हंकारी के लिये, कोउ सत्त्व परमेश।
सखा न क्रोधी का मिले, द्वेषी का प्रतिवेश[४]॥११८३॥

---

१. क्रियमाण-जो किया जा रहा है; २. सूद-हनन, वध;
३. व्यक्ति-अभिव्यक्ति; ४. प्रतिवेश-पड़ौस।

जीत क्रोध को प्रेम से, खोटों को, कर नीक।
मिथु सत् से, पर लोभ को, उर रख दया-प्रतीक॥११८४॥

कर सद्, रख नहिं जो सके, अपना मान पुमान्।
निभा सके नहिं और का, वह कदापि सन्मान॥११८५॥

लड़कर अपनी बात को, करना मान्य न ठीक।
हो चुप-निन्दा, स्वयम् ही, अपितु कर्म कर नीक॥११८६॥

पंख बिना दिव-स्वप्न है, भरना उच्च उड़ान।
सो कर नित बन जो सके, पग पग को दिनमान॥११८७॥

संस्कृत कर्म-प्रपात से, सींच जगत् जन हीय।
विकसे जो कि उदारता, प्रेम पवित कमनीय॥११८८॥

शब्द भिन्नता अन्यथा, चिन्ता चिता समान।
इक गोचर है, दूसरी, छिपकर बने नसान॥११८९॥

सत्य वृत्ति को साधना, जब हो सबल विशिष्ट।
संयम सेवा में बढ़े, सजग-सहजता शिष्ट॥११९०॥

खरे कषों पर जो रहें, उनसे रख घन नात।
परख दशा प्रत्येक को, चल उसके पश्चात्॥११९१॥

कितनी भले प्रचण्ड हो, क्षमता, शक्ति अजेय।
डिगा आत्म-विश्वास तो, हारें, जो था जेय॥११९२॥

मानव अपने भाग्य का, सदा विधाता आप।
अर्थ समझ, है उक्ति का, सद् रख कर्म-कलाप॥११९३॥

क्यों उद्विग्न अधीर हो, जीवन इक संग्राम।
डट थितियों का सामना, करे, जये वह राम॥११९४॥

सुलभताएँ संसार में, भरी पड़ी हैं मित्र।
प्राप्ति हेतु पर सार्थ, हों, साहस यत्न चरित्र॥११९५॥

अपने हाथों ही रचे, अपना मनुज महान।
अकर्मण्य बन रङ्क हो, कर्मठ बन मुदवान्॥११९६॥

यश अपयश हैं वस्तुतः, अर्जित स्वयम् वृतान्त।
जो सुगन्ध दुर्गन्ध सा, रहें मृत्यु उपरान्त॥११९७॥

अर्जित वैभव को नहीं, अपने तक रख रोक।
क्योंकि किसी को दे सके, असामान्य आलोक॥११९८॥

विफल रहें वे सर्वदा, यदपि न मन-बल पोच।
इक सोचें करते नहीं, इक करते बिन सोच॥११९९॥

वही हारता, जो गँवा, बैठे उर उत्साह।
ऐसे का नहिं साथ दे, कोई जग में, आह!॥१२००॥

जो ले अवसर युक्त का, लाभ युक्ति के साथ।
वर्तमान देता उसे, सद्फल सफल अकाथ॥१२०१॥

अनय-तन्त्र जनतन्त्र

प्रजातन्त्र की कल्पना, रामराज की आस।
जन जन नन्दित हो, न हो, कोई कष्ट कुहास॥१२०२॥

धन-सम्पद् अधिकारिता, मिलें, स्वार्थ सुख साज।
आमन्त्रण अपराध को, स्वाभाविक जनराज!॥१२०३॥

हाथों को अधिकार हो, सुथरा न हो चरित्र।
दुरुपयोग सम्भावना, नहीं कल्पना मित्र॥१२०४॥

सर्वोत्तम हैं कृष्ण भी, लोकराज के ढंग।
यह केवल आदर्श है, सद्चरित्र के संग॥१२०५॥

हथिया लें नेतृत्व का, अक्षम पापी, भार।
हो रहता[१] उस राष्ट्र का, निश्चित बन्टाधार[२]॥१२०६॥

शासन है, जन हेतु का, करना सफल उपाय।
मिटता पर वह, लोक का, हित जो नहिं कर पाय॥१२०७॥

प्रजातन्त्र वरदान है, जो शासन गुणवान्।
घोर नरक अभिशाप है, यदि वह दैत्य समान॥१२०८॥

अंकुशहीन-स्वराज के, हों जहँ ढपली राग।
सुख स्वतन्त्रता खो रहें, अस जग के जन-भाग॥१२०९॥

---

१. हो रहता-होकर रहता है; २. बन्टाधार-सत्यानाश।

शनैः शनैः जनतन्त्र में, अनाचार अन्याय।
ऊँची कुरसी से चले, जन जन जाय समाय॥१२१०॥

प्रजातन्त्र अपराधिता, अँगिया-कुरती साथ।
जितनी कसे विधायिता, उतने रचें कुपाथ॥१२११॥

हाथ व्यवस्था आ गयी, हुआ निरंकुश राज।
जघन-भ्रष्टता क्रूरता, लूटे तब धन लाज॥१२१२॥

पकड़ नहीं पाती कभी, प्रजातन्त्र की नीति।
बाहु-शक्ति अपकर्म को, रहे छूट नहिं भीति॥१२१३॥

उद्धतता[१] स्वच्छन्दता, भ्रष्ट क्रूर अपराध।
पोषण दें जनतन्त्र को, जन-हित के बन व्याध॥१२१४॥

घूस कमीशन लूट को, जहाँ मिले सम्मान।
शोषित हों जनराज में, सद्गुण श्रम ईमान॥१२१५॥

है कोरे आदर्श का, ढाँचा यह जनतन्त्र।
सफल भ्रष्टता-रोक का, न दे जो कि विधि-मन्त्र॥१२१६॥

फन्दे शिथिल विधान के, गुण्डइ भरे कुलाँच।
झूठ खड़ा हुँकारता, रोये सिसके साँच॥१२१७॥

दण्डित नहिं, फूलें फलें, घोर कुकर्मी लोग।
यों असफल जन-राज है, गलघोंटू का रोग॥१२१८॥

---

१. उद्धतता-उजड्डता।

प्रजातन्त्र में सर्वथा, रहे उदार विधान।
घोर-क्रूर सो पाप हों, चूसें निर्बल प्रान॥१२१९॥

न्याय-विधान प्रबन्ध हैं, घोर भ्रष्टता लीन।
ढूँढा कर सूरज लिये, सद् नहिं, मिले निहीन[1]॥१२२०॥

प्रजातन्त्र को देखिये, सुष्ठु-खोल में पोल।
जनबल धनबल बाहुबल, तीनों करें किलोल॥१२२१॥

दुराचार-आतंक के, हों सत्ता-गलियार।
मात्र, प्रशासन कर्म का, तब हो भ्रष्ट अधार॥१२२२॥

संसद तक पहुँचा दिये, अपराधी सिरमौर।
फिर दुख क्यों जब खा रहे, जनता मुख का कौर॥१२२३॥

जीते घोर जघन्यता, लोकराज के वोट।
मानवता निष्प्राण हो, हथकण्डे दें चोट॥१२२४॥

लोकराज, जनता दुखी, कुरसी बेईमान।
न्याय छिपा बैठा मिले, मदिरा घूस दुकान॥१२२५॥

स्वार्थ-भ्रष्ट हो चूँसते, अन्य-रुधिर सब लोग।
राष्ट्र अन्त का वस्तुतः, है यह निश्चित योग॥१२२६॥

हथकण्डों का राज है, खेलें खुलकर फाग।
मेहनत भूखों तोड़ती, दम, नित बुझें चिराग॥१२२७॥

---

१. निहीन-अधम, नीच।

सोचा था जनतन्त्र में, राम-राज सुख होय।
तन्त्र, प्रजा अंकुश बिना, हुये, और नहिं कोय॥१२२८॥

जय जय हो जनतन्त्र की, जो थे नंग फकीर।
नेतइ के व्यवसाय में, चमक गई तकदीर॥१२२९॥

महलों से बड़ ठाठ में, लोकराज आवास।
जनता हाय विडम्बना, बेकल व्यथित उदास॥१२३०॥

रक्षा के, हित-राष्ट्र के, हों जो कार्य-कलाप।
घूस कमीशन के बिना, नहिं देखेंगे आप॥१२३१॥

फाइल में गतिशीलता, लाती रिश्वत-ग्रीस।
आफिस पुलिस कचैहरी, मात्र रहे जन पीस॥१२३२॥

कार्य-पालिका भ्रष्ट है, दुर्लभ जन-कल्याण।
घूस कमीशन की छुरी, ले जनहित के प्राण॥१२३३॥

प्रजातन्त्र रचता सदा, अस धन हड़पू प्लान।
कागज पर ही पूर्ण हों, पर जनता अनजान॥१२३४॥

चपरासी तक तन्त्र का, नियत लूट सोपान।
सो पहुँची मजदूर लौं, नीयत बेईमान॥१२३५॥

प्रजातन्त्र में राष्ट्र भी, बिकता हो बिक जाय।
न्याय प्रबन्ध विधायिका, जन-हित का धन खाय॥१२३६॥

सजग! जगत्-वैषम्य से, माने मनुज न हार।
अपनों से अवमान का, सह न पाव पर भार॥११४८॥

लगने मंगल में लगे, जैसे ही चित गात।
वैसे ही होने लगें, कर्म सिद्ध विख्यात॥११४९॥

सुगढ़, अगढ़ मन को गढ़े, करने को अवदात[१]।
करना है, नर-जाति का, यह मंगल अर्थात्॥११५०॥

दिये बिना देती नहीं, वन्शी भी स्वर गीत।
सो समझें! कुछ पा सकें, अन से, दे सम प्रीत॥११५१॥

क्रिया-सृजनमय, व्यस्तता, रख भल से भरपूर।
दे स्वर हर्ष उछाह के, तब जीवन-सन्तूर॥११५२॥

नहिं अच्छा, एकान्त सा, साथी मिलता कोय।
मात्र कामना त्याग से, प्राप शान्ति पर होय॥११५३॥

शान्ति प्रेम शालीनता, शोभित सज्जन बैन।
किन्तु सजग! उद्विग्नता, जग को, दुर्जन दैन॥११५४॥

अपने दुर्गुण दोष से, करे न सद् सम्वाद।
भूतल में नहिं दूसरा, इससे बड़ा प्रमाद॥११५५॥

किया किसी के सामने, इक ही भले कुकर्म।
देता नहिं वह व्यक्ति को, कभी प्रतिष्ठा शर्म॥११५६॥

---

१. अवदात-उज्ज्वल, निर्मल।

फिर कर लेंगे की चले, बात पतन की ओर।
कभी न होने दे भला, यह स्वभाव का चोर॥११५७॥

जो आलस्य कुकर्म से, रहे सर्वदा दूर।
उसका ईश-प्रभान से, हर्षे मनस् मयूर॥११५८॥

धीर किसी को, दे सके, उत्साहन कल्यान।
व्यर्थ दीर्घ बकवास से, वह इक वचन महान॥११५९॥

हीरा ढूँढ निकालना, सम्भव बीच खदान।
सो विवेक श्रम सूझ का, दे जय, रखें रुझान॥११६०॥

परिवर्तन इस सृष्टि में, है चिर शाश्वत सत्य।
सो नव-थिति संघर्ष से, वचना कायर क्रत्य[1]॥११६१॥

जो करता वह साधु है, अघ का पश्चात्ताप।
पर पिशाच है जो करे, अहम्कार रख पाप॥११६२॥

नहीं शोक की दृष्टि से, देखें घटित अतीत।
वर्तमान की पा सकें, तब उन्नतिमय प्रीत॥११६३॥

कुछ न करे प्रतिकूलता, समझ हटे[2], डर क्षोभ।
निकलें शान्त विचार से, उत्तर, तब तज लोभ॥११६४॥

पीछे नहिं आगे बढ़ें, जींवन दे सन्देश।
आगे को इस हेतु ही, आँख दिये परमेश॥११६५॥

---

१. क्रत्य-कृत्य, कर्म; २. हटे-हटाती है।

माँगी सुविधा-शुल्क दे, कम दे, काम न होय।
ले भी लें कम,, पर लिखें, उलट कि जो मन रोय॥१२५५॥

परमोशन[1] फाइल चले, उससे पहिले आप।
किसी शाम घर आइये, सर ने किया अलाप॥१२५६॥

नवभारत के किंग हैं, षड्यन्त्रों के स्रोत।
जन जन-शासन व्यूह में, काटे जीवन रोत॥१२५७॥

गतिविधि अन्यायी जनें, व्यापक क्षोभ विदीर्ण[2]।
तब समाज की आह से, हों उपाय अवतीर्ण॥१२५८॥

तन्त्र, बन्दि कुछ हाथ में, लोक, भाग्य के हाथ।
उठे वहाँ आक्रोश की, इक दिन ज्वाल अकाथ॥१२५९॥

लोकराज यदि चाहता, जन-जीवन का स्वर्ग।
सभी भ्रष्टता लूट के, प्रतिबन्धित कर सर्ग[3]॥१२६०॥

रखें घिनौना चेहरा, लोकराज जो हाथ।
कर कठोर विधि न्याय को, जो तब ही दें नाथ॥१२६१॥

प्रजातन्त्र कर तू सके, प्रजा राष्ट्र उत्थान।
घूसक जन-धन चोर को, रच सो मृत्यु विधान॥१२६२॥

सफल तभी जनराज हो, न्याय मिले तत्काल।
अपराधी पावें सजा, विधि अनुसार कराल॥१२६३॥

---

१. परमोशन-प्रमोशन, प्रोन्नति; २. विदीर्ण-विनाश, मार ड़ालता हुआ; ३. सर्ग-रचना, प्रवृत्ति, स्वभाव।

आरक्षण नहिं, योग्यता, हो पद का आधार।
राष्ट्र प्रगति तब पा सके, उत्तम कर्म विचार॥१२६४॥

विकसे सद्ता श्रेष्ठता, जन जन प्रेम स्वभाव।
लक्ष्य सर्व-कल्याण का, कोउ तन्त्र तब पाव॥१२६५॥

जन जन रखे चुनाव में, मात्र स्वार्थ की नीति।
होती सो जनतन्त्र की, जनता प्रति खल-प्रीति॥१२६६॥

सदाचार ईमान से, कमा सुयश धनधान्य।
प्रेम प्रशान्ति प्रसार में, कर निविष्ट[1], अविमान्य[2]॥१२६७॥

राष्ट्र गर्त में जा रहा, कहाँ न अत्याचार।
जग[3] सद् चिन्तन चेतना, दे निबार-प्रतिकार॥१२६८॥

जन-मानस कहता उसे, सर्वोत्तम सरकार।
अपनों, सेवी सा करे, जोय तन्त्र व्यवहार॥१२६९॥

कुटिलाई बलवान् हों, शोकातुर हों पौर।
रोष जने जन-पीर का, तब विधान कुछ और॥१२७०॥

जिसके न्याय विधान में, इक से इक असमान।
मान नहीं अस्तित्व भी, उसका पाव नसान॥१२७१॥

शासन करना हो नहीं, जिसका लव मन्तव्य।
उस अगुआई का रहे, सबका-शुभ कर्तव्य॥१२७२॥

---

१. निविष्ट-व्यवस्थित, स्थित; २. अविमान्य-आदर योग्य; ३. जग-जाग।

सद्-चिन्तन शुभ दात्व[1]

सत्-चिन्तन गुण-लोचना, सब प्रति भाव उदार।
बोने में आनन्द दें, सृजें दृष्टि में प्यार॥१२७३॥

जब हो पुलकित प्राण में, सच्चिन्तन साकार।
बह सम्वेदन में उठे, वासन्ती रसधार॥१२७४॥

शुभकर पवित उदात्त ही, मनोदशा है स्वर्ग।
पर चिन्तन घिन ईर्ष्य का, होता नरकी सर्ग[2]॥१२७५॥

चिन्तन-भू की नीचता, पङ्गु करे पुरुषार्थ।
अहम् ईर्ष्या द्वेष को, तब दे उगा परार्थ॥१२७६॥

ताप विकारी चिन्तना, सुगुणों का पतझार।
पीड़ा पतन समाज को, दे जाती उपहार॥१२७७॥

चिन्तन और चरित्र का, देता डुबो विकार।
वैभव वृत्ति विभूतियाँ, जन्मों रहें असार॥१२७८॥

चिन्तन अत: चरित्र की, खोना नहीं विभूति।
न तु जन्मों तक भोगनी, पड़ें आसुरी जूति[3]॥१२७९॥

चिन्तन स्वयम् चरित्र का, रखें उच्चतम मान।
न तु बन रह कब लौं सके, ढोंग, श्रेष्ठ पहिचान॥१२८०॥

---

१. दात्व-दाता; २. सर्ग-स्वभाव; ३. जूति-प्रवृत्ति।

क्षमता आत्मसुधार की, होने न दे व्यतीत।
भरती है सद्-चिन्तना, चित में भाव विनीत॥१२८१॥

रखे उदार स्वभाव को, दूरदृष्टि की सोच।
ऐसा करने से बने, चित्त पवित्र अशोच[1]॥१२८२॥

मनस् कलेवर को गढ़ें, उसके चुने विकल्प।
दें पुनीतता सोच को, सो कर दृढ़-संकल्प॥१२८३॥

चिन्तन की अश्लीलता, लोलुपता व्यामोह[2]।
मनुज मनस् व्यभिचार हैं, दृष्टिकोण अवरोह॥१२८४॥

जिनकी सोच विचारणा, घटिया उथली होय।
चतुर भले, कहते उनें, पर ओछे सब-कोय॥१२८५॥

नित्य मनन चिन्तन करें, उस पर, जो स्वाध्याय।
अवसि प्रखर तब हो रहें, बुद्धि विवेक उपाय॥१२८६॥

छोड़ मोह संकीर्णता, स्वार्थ द्वेष दुर्भाव।
भाव विश्व-परिवार का, भर, मन मंगल चाव॥१२८७॥

भ्रम, इन्द्रिय-सुख-लालसा, उलटे जीवन नाव।
उन प्रति भाव उदास से, पग मंगल गति पाव॥१२८८॥

निरख लक्ष्य नर-जन्म का, रखकर स्वमुख[3] सुदीठ।
सद्चिन्तन सद्कर्म में, तब चित लग[4] पा ईठ[5]॥१२८९॥

---

१. अशोच-अशोक, अचिन्त; २. व्यामोह-अज्ञान;
३. स्वमुख-अन्तरमुख, अपने स्व की ओर मुख; ४. लग-लगा;
५. ईठ-इष्ट।

नव है सो अपना लिया, बिना-विचार विचार।
दे बिखेर मन-शक्तियाँ, सो यह बान विसार॥१२९०॥

उरस् भाव-सम्वेदना, जगे, मिलें अनुदान।
चिन्तन करम चरित्र में, हो तब शुभ उत्थान॥१२९१॥

कण्टकमय हों सौख्य के, पन्थ कल्पनातीत।
रहे पराहित चिन्तना, निज-हित भी विपरीत॥१२९२॥

शुचिता जिसकी सोच में, पर-कल्याणी काम।
है वह प्रवर[१], यथार्थ में, विद्वानों में नाम॥१२९३॥

करके पावन सत्य से, वाणी, कर उपयोग।
पर जो श्रेष्ठ विचार में, मात्र उसी को भोग[२]॥१२९४॥

सरल सौम्य सद्भाव से, यदि हों पूर्ण विचार।
तब मानस की व्याधियाँ, स्वतः पाव परिहार॥१२९५॥

जैसी सोच विचारणा, वैसा ही व्यवहार।
सुन्दर सुगुणी सो रखें, चिन्तन के आधार॥१२९६॥

लख पर-प्रगति प्रसन्न हो, उन्नति करना सीख।
सद्-पोषक[३] तब हो सके, तव चिन्तन की दीख॥१२९७॥

चिन्तन वाणी कर्म हों, यदि अपने उत्कृष्ट।
कर औरों की भी सकें, तब समर्थता सृष्ट॥१२९८॥

---

१. प्रवर-सबसे श्रेष्ठ; २. भोग-जीवन में उतार;
३. सद्-पोषक-सकारात्मक; ४. सृष्ट-अलंकृत।

जग के कतिपय सत्य

आत्मा तड़पे रो उठे, मन हो हाहाकार।
जब अपने ही रक्त का, चटक टूटता प्यार॥१२९९॥

नहीं भुलाये भूलता, अन्तः का चित्कार।
दे जाता जब घाव को, अपनों का व्यवहार॥१३००॥

सुत ही करवाने लगे, जूते का सम्मान।
पिता प्राण तब लें, करें, प्रभु अस आप विधान॥१३०१॥

सदा रखें कर्तव्य में, अपना अन्तः-गात।
हों तब जीवन-वृक्ष के, सकें, चीकने पात॥१३०२॥

अर्थ काम की भोग्यता, जब भी बढ़े समाज।
चित चित् से हटने लगे, तब मर्यादित लाज॥१३०३॥

लख विलासिता वासना, बढ़े बड़प्पन कीच।
नारी नागा हो, बने, पुरुष जघनतम नीच॥१३०४॥

अघ खोजे नव शैलियाँ, नित-अपना, दे दाह।
सो अघ-पथ सब त्यागना, यदि जीवन-सुख चाह॥१३०५॥

गूँगा है कहता नहीं, उचित समय पर जोय।
बढ़ा अघी का और भी, अघ दे, अस चुप होय॥१३०६॥

कभी कभी ही जीवता, न्याय प्रेत की भाँत।
धन धमकी उसकी रखें, जकड़े न तु गल गात॥१३०७॥

सजग! चतुर चलते, लगे, अन को प्रिय तकनीक।
पर सुविधा अनुसार वे, तुरत बदलते लीक[१]॥१३०८॥

जीते पाल्य अभाव में, स्वयम् भोगता ठाठ।
ऐसा क्रूर समाज से, पाता, दुत दुत साठ॥१३०९॥

काम करे, समझे बिना, शक्ति धर्म, निज-अर्थ[२]।
रखे न पाने योग्य की, चाह, रहे असमर्थ॥१३१०॥

कर्मों में एकाग्रता, सर्वाधिक उपयुक्त।
लगन, सफलता दे यही, रख चित अविरत शुक्त[३]॥१३११॥

आलस जो अध्याय[४] दे, दे हंकार अनीति।
उससे अनपढ़ता भली, न मिले भले प्रतीति[५]॥१३१२॥

समय बहुत इक काम में, करता व्यर्थ व्यतीत।
दुसह जिए, अस सिद्ध हो, अपने ही विपरीत॥१३१३॥

थितियाँ, अपनी शक्तियाँ, देश काल व्यय आय।
कौन मित्र है, जानना, निज को सदा सहाय॥१३१४॥

है स्वतन्त्र, कर, जो रुचे, पर रख पर-हित ध्यान।
इससे मानव जाति का, शक्य सर्व कल्याण॥१३१५॥

---

१. लीक-मर्यादा, परम्परा; २. निज-अर्थ-अपने लिये; ३. शुक्त-संयुक्त; ४. अध्याय-अध्ययन; ५. प्रतीति-ख्याति, आदर, हर्ष।

रहता क्रोधावेश में, नहीं बुद्धि शालीन।
रचे मनुज विक्षिप्त सा, तब षड्यन्त्र निहीन॥१३१६॥

पूर्ण हमारी की नहीं, उसने मन की बात।
नियम बना, करना नहीं, फिर भी उससे घात॥१३१७॥

कलह किसी को हो नहीं, धार रखे जो[१] मौन।
सदा रहे जगता, उसे, दे सकता भय कौन॥१३१८॥

समझ रखें, फिर भी चलें, चतुराई की चाल।
क्षण सुख पा उनका रहे, जीवन ज्यों कलिकाल॥१३१९॥

तर्क वाद करते हुए, मुँह नहिं कभी बिगाड़।
न तु सुफलित नहिं हो सके, रहे उखाड़-पछाड़॥१३२०॥

जिसके स्वर का, आँख का, उदासीन सत्कार।
प्रियता तज उससे रखें, समुचित बना दरार[२]॥१३२१॥

लगे छलकने आँख में, मौन तड़पती आह।
खड़ा करे प्रतिकार को, तब चित तप्त प्रवाह॥१३२२॥

करे किसी भी वस्तु का, दुरुपयोग अवमान।
वञ्चित हो, दुख भोगना, उससे पड़े महान॥१३२३॥

गुण समर्थता बुद्धि में, समझ कोउ नहिं हीन।
मिलीं दशाएँ ही गढ़ें, न तु नर हीन प्रवीन॥१३२४॥

---

१. जो-यदि; २. दरार-दूरी।

श्रेष्ठ भला करते नहीं, पर अन दोष-निकाल।
रुचि उन्नत रख चाल में, हो तब चित्त उजाल॥१३२५॥

औरों की अच्छाइयाँ, सदा देखना सीख।
सम्बन्धों की मात्र दे, थिर मधुता यह दीख॥१३२६॥

जिसे मात्र धन-धान्य हैं, उन्नति का आकास।
आत्म-मूल्य समझे कभी, वह नहिं मूढ़-विलास॥१३२७॥

देने से बढ़ती रहे, सुख दे मातु समान।
जहाँ मिले, करना सखे, उत्तम विद्या पान॥१३२८॥

कभी न महिमा पा सके, शान्ति अचाहे[1] कोय।
भेदभाव रख आपसी, धर्माचार न होय॥१३२९॥

हानि अजय दुख भूत के, मन से रखें निकाल।
मन-बल-संगति नाश हो, न तु, नित रहे अकाल[2]॥१३३०॥

करना, सुधि में धारना, लेना समझ सुसार।
क्योंकि लगे, पर है नहीं, कार्य कोउ भी भार[3]॥१३३१॥

सुनें एक नहिं पाप की, रखें इसे ठुकराय।
हो न सके तब लोक में, कोउ दीन असहाय॥१३३२॥

रह विद्या की ज्योति में, होता ज्ञान यथार्थ।
मुक्ति मिले काठिन्य से, हो ध्यानस्थ परार्थ॥१३३३॥

---

१. अचाहे-बिना चाहे; २. अकाल-अशुभ-काल; ३. भार-कठिन।

सौमनस्य है धर्म की, धुरी, न जो परिहार्य।
उगा सके जन हीय में, यही प्रेम औदार्य॥१३३४॥

उस जीवन में सर्वदा, पसरी रहती साँझ।
अनय-निलय उर, बुद्धि की, जहाँ व्यवस्था बाँझ॥१३३५॥

करना जीवन में नहीं, हिन्सा से कुछ प्राप।
भोग, हिन्स से प्राप का, करना भी, ज्यों श्राप॥१३३६॥

जितने अन्तः-भाव हों, खोटे पापी भ्रष्ट।
मति-वैभव संकीर्ण हो, होता उतना नष्ट॥१३३७॥

कथन लेख नहिं कर्म भी, देते हों उपदेश।
श्रोता उर में धारणा[१], तब हो, पा आवेश[२]॥१३३८॥

सुनकर, चिन्तन-व्यस्त हों, परिवर्तित हों कर्म।
छुए, वही उपदेश है, जो श्रोता का मर्म॥१३३९॥

अपना औरों का रखे, जो नर ध्यान समान।
उसे सदा यह न्याय दे, सर्वोत्तम उत्थान॥१३४०॥

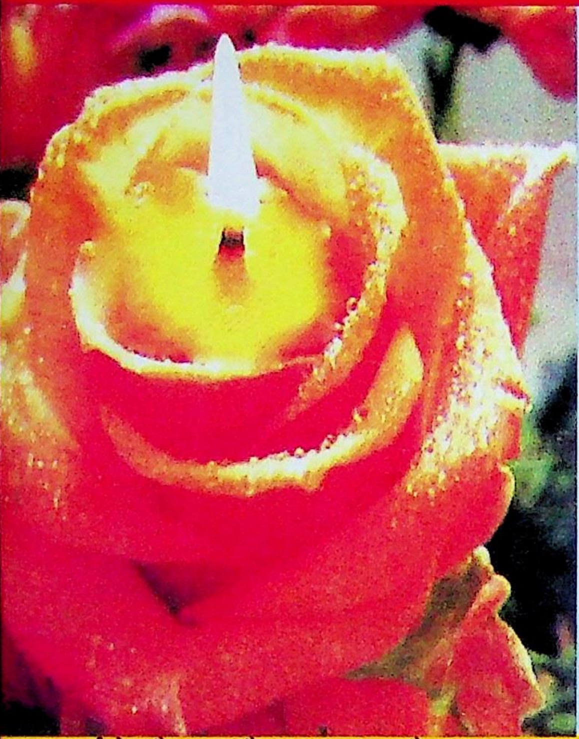
परिचय पहिले से नहीं, करे सख्य बरताव।
उससे पितु माँ भ्रात सा, रखना सदा निभाव॥१३४१॥

जब भटकनमय बोध को, तज, चुप थिर हो ज्ञान।
खुलें, अनन्तम् ब्रह्म के, तब पट तुरत अजान[३]॥१३४२॥

---

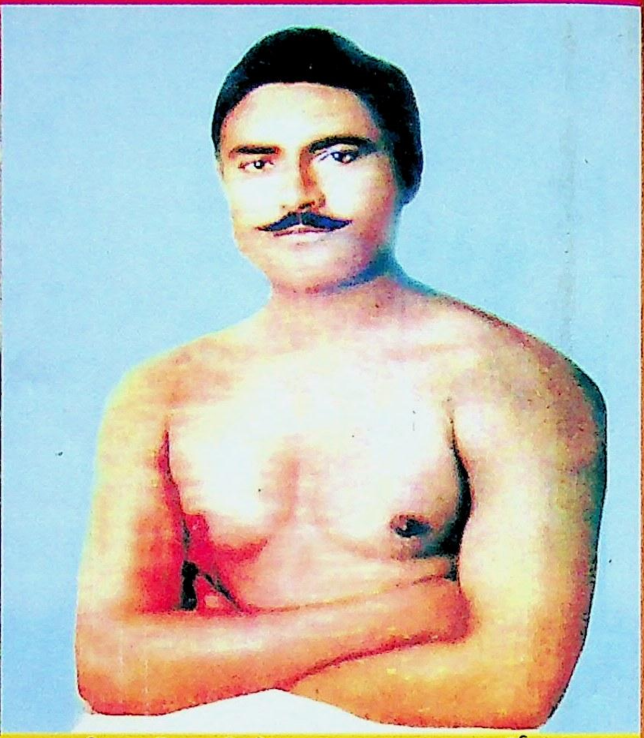
१. धारणा-ग्रहण करने की क्रिया; २. आवेश-प्रवेश; ३. अजान-अज्ञात।

प्रत्यक्ष-ब्रह्म पूज्य माँ की स्मृति में



मूर्त प्रेम है, त्याग है, करुण-भाव है एक।
माँ है भव्य मनुष्यता, माँ है दिव्य विवेक।।

क्षेमंकर, तेजस-दातृ पूज्य पिताश्री की स्मृति में



भीम-शक्ति की प्रेरणा, साहस -दाता मूर्ति।
शुभ, उन्नति, की सीख है, पिता, सुरक्षा, पूर्ति।।

ब्रह्माण्ड-नायक परब्रह्मश्री सत्य साई प्रभु को समर्पित



देह नहीं, नहिं बुद्धि है, मन नहिं, नहीं दिमाग।
तुच्छ अहम् हृदय नहीं, वह खम् तेजस्-आग।।

रचयिता



मैं 'मैं' हूँ कहना उसे, पूछे तुम हो कौन।
अनुभूति अनुभूति 'मैं', 'मैं' स्वराट् चित् मौन।।।